

## Chapter एक

### अजामिल के जीवन का इतिहास

पूरे *श्रीमद्भागवत* में दस विषयों के वर्णन मिलते हैं जिनमें सृष्टि, परवर्ती सृष्टि तथा लोक सम्मिलित हैं। *श्रीमद्भागवत* के वक्ता शुकदेव गोस्वामी पहले ही तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम स्कन्धों में सृष्टि, परवर्ती सृष्टि तथा लोकप्रणालियों का वर्णन कर चुके हैं। अब इस छोटे स्कन्ध में, जिसमें उन्नीस अध्याय हैं, वे *पोषण* अर्थात् भगवान् द्वारा संरक्षण का वर्णन करेंगे।

प्रथम अध्याय में अजामिल का इतिहास है, जो एक बहुत बड़ा पापी व्यक्ति माना जाता था, किन्तु जब विष्णु के चार दूत यमराज के दूतों से उसे छुड़ाने पहुँचे तो उसे मुक्ति मिल गई। इस अध्याय में इसका पूर्ण विवरण दिया गया है कि अपने पापमय जीवन के फलों से छुटकारा पाने के बाद वह किस तरह मुक्त हुआ। पापकर्म इस जीवन तथा अगले दोनों ही जीवनों में कष्टप्रद होते हैं। हमें यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि समस्त कष्टमय जीवन का कारण पापकर्म है। सकाम कर्म के मार्ग में मनुष्य पापकर्म अवश्य करता है और कर्मकाण्ड की विचारधारा के अनुसार विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों की संस्तुति की जाती है। किन्तु प्रायश्चित्त की ऐसी विधियाँ मनुष्य को उस अज्ञान से मुक्त नहीं करातीं जो पापमय जीवन का मूल है। फलस्वरूप प्रायश्चित्त के बाद भी वह पापकर्म करने के प्रति उसकी प्रवृत्ति बनी रहती है इसलिए यह प्रायश्चित्त शुद्धीकरण के लिए अपर्याप्त है। ज्ञान के मार्ग पर वस्तुओं को यथार्थ रूप में समझने से व्यक्ति पापमय जीवन से मुक्त हो जाता है। इसलिए ज्ञानार्जन को भी प्रायश्चित्त की एक विधि माना जाता है। सकाम कर्म सम्पन्न करते समय मनुष्य तपस्या, ब्रह्मचर्य, मन तथा इन्द्रिय के संयम, सत्यता तथा योगाभ्यास के द्वारा पापमय जीवन के कर्मों से मुक्त बन सकता है। ज्ञान को जाग्रत करके भी व्यक्ति पाप के फलों को निष्प्रभावित कर सकता है। किन्तु इनमें से कोई भी विधि उसे पापकर्म करने की प्रवृत्ति से मुक्त नहीं कर सकती।

भक्तियोग के द्वारा मनुष्य पापमय जीवन की प्रवृत्ति से पूरी तरह बच सकता है; अन्य विधियाँ अधिक उपयोगी नहीं हैं। इसलिए वैदिक साहित्य का निष्कर्ष है; कि *कर्मकाण्ड* तथा *ज्ञानकाण्ड* की विधियों की अपेक्षा *भक्ति* अधिक महत्त्वपूर्ण है। एकमात्र भक्तिमार्ग ही हर एक के लिए कल्याणकारी है। सकाम कर्म तथा चिन्तनपरक ज्ञान स्वतंत्ररूप से किसी को मुक्त नहीं कर सकते, किन्तु कर्म तथा ज्ञान से स्वतंत्र रहते हुए भक्ति इतनी शक्तिशाली होती है कि जो व्यक्ति कृष्ण के चरणकमलों पर अपने मन को स्थिर कर लेता है, उसके स्वप्न में भी यमदूत न आने की गारंटी रहती है।

भक्ति की शक्ति सिद्ध करने के लिए शुकदेव गोस्वामी ने अजामिल के इतिहास का वर्णन किया। अजामिल कान्यकुब्ज (वर्तमान कन्नौज) का निवासी था। उसके माता-पिता ने उसे वेदों का अध्ययन करके तथा विधि-विधानों का पालन करके पूर्ण ब्राह्मण बनने का प्रशिक्षण दिया था, किन्तु अपने विगत कर्मों के कारण यह युवक ब्राह्मण किसी तरह से एक वेश्या के प्रति आकृष्ट हो गया और उसकी संगति के फलस्वरूप वह अत्यधिक पतित बन गया और उसने सारे विधि विधानों को त्याग दिया। उसने उस वेश्या के गर्भ से दस पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें से अन्तिम का नाम नारायण था। अजामिल की मृत्यु के समय, जब यमदूत उसे लेने आये, तो उसने भयवश जोर से नारायण का नाम पुकारा, क्योंकि वह अपने इस सबसे छोटे पुत्र में बहुत आसक्त था। इस तरह उसने आदि नारायण भगवान् विष्णु का स्मरण किया। यद्यपि उसने पूर्णतया निरपराध होकर नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण नहीं किया था, फिर भी उसका प्रभाव पड़ा। ज्योंही उसने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया, त्योंही भगवान् विष्णु के दूत वहाँ पर प्रकट हुए। अतः भगवान् विष्णु के दूतों तथा यमराज के दूतों के बीच वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ और इस वार्तालाप को सुनकर अजामिल मुक्त हो गया। तब सकाम कर्मों का बुरा प्रभाव उसकी समझ में आया और वह यह भी समझ सका कि भक्ति-विधि कितनी उच्च है।

श्रीपरीक्षिदुवाच

निवृत्तिमार्गः कथित आदौ भगवता यथा ।

क्रमयोगोपलब्धेन ब्रह्मणा यदसंसृतिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-परीक्षित् उवाच—महाराज परीक्षित ने कहा; निवृत्ति-मार्गः—मुक्ति का मार्ग; कथितः—वर्णन किया गया; आदौ—प्रारम्भ में; भगवता—आपके द्वारा; यथा—भलीभाँति; क्रम—क्रमशः; योग-उपलब्धेन—योग विधि द्वारा प्राप्त; ब्रह्मणा—ब्रह्मा के साथ ( ब्रह्मलोक पहुँचने के बाद ); यत्—जिस विधि से; असंसृतिः—जन्म तथा मृत्यु के चक्र का अन्त।

महाराज परीक्षित ने कहा : हे प्रभु! हे शुकदेव गोस्वामी, आप पहले ही ( द्वितीय स्कन्ध में ) मुक्ति-मार्ग ( निवृत्ति मार्ग ) का वर्णन कर चुके हैं। उस मार्ग का अनुसरण करने से मनुष्य निश्चित रूप से क्रमशः सर्वोच्च लोक अर्थात् ब्रह्मलोक तक ऊपर उठ जाता है, जहाँ से वह ब्रह्मा के साथ-साथ आध्यात्मिक जगत ( वैकुण्ठ ) जाता है। इस तरह भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है।

तात्पर्य : चूँकि महाराज परीक्षित वैष्णव थे, अतः जब उन्होंने पाँचवें अध्याय के अन्त में जीवन की विभिन्न नारकीय दशाओं का वर्णन सुना तो उन्हें अत्यधिक चिन्ता हुई कि बद्धजीवों को किस तरह माया के पाश से मुक्त किया जाये और भगवद्धाम ले जाया जाये। अतएव उन्होंने अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी को *निवृत्ति मार्ग* अर्थात् मुक्ति के मार्ग का स्मरण दिलाया, जिसे वे द्वितीय स्कन्ध में बता चुके थे। महाराज परीक्षित भाग्यशाली थे कि मृत्यु के समय उनकी भेंट शुकदेव गोस्वामी से हो गई थी, अतः उन्होंने उनसे इस संकट के काल में मुक्ति मार्ग के विषय में पूछा। शुकदेव गोस्वामी ने उनके इस प्रश्न की मूरि-मूरि प्रशंसा की तथा यह कहते हुए उन्हें बधाई दी—

*वरीयान् एष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप।*

*आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ॥*

“हे राजन्! तुम्हारा प्रश्न श्रेष्ठ है, क्योंकि यह सभी तरह के लोगों के लिए अति कल्याणकारी है। इस प्रश्न का उत्तर श्रवण का मुख्य विषय है और समस्त योगियों द्वारा अनुमोदित हैं।”

( भागवत २.१.१ ) ।

परीक्षित महाराज आश्चर्यचकित थे कि बद्धावस्था में जीव इतनी नारकीय यातनाओं को भोगने के बजाय मुक्ति के मार्ग, भक्ति, को क्यों स्वीकार नहीं करते? यह एक वैष्णव का लक्षण है। *वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च*—वैष्णव करुणा का सागर होता है। *पर दुःखदुःखी*—वह अन्यो के दुख से दुखी रहता है। इसलिए नारकीय जीवन भोग रहे बद्धात्माओं के प्रति दयालु होने से परीक्षित महाराज ने सुझाव रखा कि शुकदेव गोस्वामी उस मुक्ति-मार्ग का वर्णन करते रहें, जिसे उन्होंने *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध के आरम्भ में बतलाया था। इस सम्बन्ध में *असंसृति* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *संसृति* द्योतक है जन्म तथा मृत्यु के मार्ग पर बढ़ते जाने का। इसके विपरीत *असंसृति* द्योतक है *निवृत्ति-मार्ग* या मुक्ति के मार्ग का जिसके द्वारा मनुष्य के जन्म तथा मृत्यु बन्द हो जाते हैं और वह धीरे धीरे ब्रह्मलोक की ओर बढ़ता जाता है। जब तक कि कोई शुद्ध भक्त न हो, जो उच्चतर लोकों में जाने की परवाह नहीं करता, अतः वह भक्ति करने से अविलम्ब भगवद्धाम वापस चला जाता है (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*)। इसीलिए परीक्षित महाराज बद्धजीव के लिए निवृत्ति-मार्ग के विषय में शुकदेव गोस्वामी से सुनने के लिए उत्कण्ठित थे।

आचार्यों के मतानुसार *क्रमयोगोपलब्धेन* शब्द यह सूचित करता है कि सर्वप्रथम कर्मयोग तथा उसके बाद ज्ञानयोग सम्पन्न करने पर तथा अन्त में भक्तियोग के पद पर आकर मनुष्य मुक्त हो सकता है। किन्तु भक्तियोग स्वयं में इतना शक्तिशाली है कि यह कर्मयोग या ज्ञानयोग पर निर्भर नहीं रहता। भक्तियोग इतना शक्तिशाली है कि एक पापी व्यक्ति भी, जिसके पास कर्मयोग की कोई पूँजी नहीं होती या एक अशिक्षित व्यक्ति भी, जिसके पास ज्ञानयोग की पूँजी नहीं होती, वह निस्सन्देह आध्यात्मिक जगत को प्राप्त कर सकता है, यदि वह भक्तिमार्ग में अटल बना रहता है। *मामेवैष्यस्यसंशयः। भगवद्गीता (८.७)* में कृष्ण कहते हैं कि भक्तियोग की विधि से मनुष्य निस्सन्देह भगवान् के पास आध्यात्मिक जगत में जाता है। किन्तु योगीजन सीधे आध्यात्मिक जगत न जाकर कभी-कभी अन्य लोकों को देखना चाहते हैं, अतएव वे उस लोक में जाते हैं जहाँ ब्रह्मा रहते हैं, जैसाकि यहाँ *ब्रह्मणा* शब्द से सूचित होता है। प्रलय के समय ब्रह्माजी ब्रह्मलोक के

समस्त निवासियों सहित सीधे आध्यात्मिक लोक चले जाते हैं। इसकी पुष्टि वेदों में इस प्रकार हुई है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।

परास्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

“जो लोग प्रलय के समय ब्रह्मलोक में रहते हैं, वे अपने उच्च पद के कारण ब्रह्मा के साथ सीधे भगवद्धाम वापस चले जाते हैं।”

प्रवृत्तिलक्षणश्चैव त्रैगुण्यविषयो मुने ।

योऽसावलीनप्रकृतेर्गुणसर्गः पुनः पुनः ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

प्रवृत्ति—झुकाव से; लक्षणः—लक्षित; च—भी; एव—निस्सन्देह; त्रै-गुण्य—प्रकृति के तीनों गुण; विषयः—विषयों के रूप में; मुने—हे मुनि; यः—जो; असौ—वह; अलीन-प्रकृतेः—जो माया के पाश से मुक्त नहीं हो पाता उसका; गुण-सर्गः—जिसमें भौतिक शरीरों की सृष्टि होती है; पुनः पुनः—बारम्बार ।

हे मुनि शुकदेव गोस्वामी! जब तक जीव प्रकृति के भौतिक गुणों के संक्रमण से मुक्त नहीं हो लेता, वह विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त करता है जिनमें वह आनन्द या कष्ट पाता है और शरीर के अनुसार उसमें विविध अभिरुचियाँ होती हैं। इन अभिरुचियों का अनुसरण करने से वह प्रवृत्ति मार्ग से होकर गुजरता है, जिससे वह स्वर्गलोक तक ऊपर जा सकता है, जैसा कि आप पहले ( तृतीय स्कन्ध में ) वर्णन कर चुके हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता (९.२५) में भगवान् कृष्ण बतलाते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

“जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगे, जो लोग भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं, वे उन्हीं के बीच जन्म लेंगे, जो लोग पितरों की पूजा करते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं और जो लोग मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ निवास करते हैं।” प्रकृति के विभिन्न गुणों

के प्रभाव के कारण जीवों में नाना प्रकार की प्रवृत्तियाँ या लालसाएँ पाई जाती हैं, इसीलिए वे विविध गन्तव्यों को प्राप्त होने के योग्य होते हैं। जब तक मनुष्य भौतिक रूप से आसक्त रहता है तब तक वह भौतिक जगत के प्रति आकर्षण के फलस्वरूप स्वर्गलोक तक ऊपर उठना चाहता है। किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् घोषणा करते हैं, “जो लोग मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे पास आते हैं।” यदि किसी को परम भगवान् तथा उनके धाम के विषय में जानकारी नहीं होती तो वह केवल उच्च भौतिक स्थिति तक ऊपर उठना चाहता है, किन्तु जब वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस जगत में बारम्बार जन्म-मृत्यु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तो वह भगवद्धाम वापस जाने की कोशिश करता है। यदि वह उस गन्तव्य को पा लेता है, तो फिर उसे इस भौतिक जगत में वापस आने की आवश्यकता नहीं रह जाती ( *यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*)। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य १९.१५१) में श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

*ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।*

*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥*

“सारे जीव अपने अपने कर्मों के अनुसार सारे ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते रहते हैं। उनमें से कुछ उच्चलोकों को जाते हैं, तो कुछ अधोलोकों को प्राप्त होते हैं। ऐसे करोड़ों भ्रमण कर रहे जीवों में से जो अति भाग्यशाली होता है उसे कृष्ण कृपा से प्रामाणिक गुरु की संगति करने का सुअवसर प्राप्त हो पाता है। ऐसा व्यक्ति कृष्ण तथा गुरु दोनों ही की कृपा से भक्ति रूपी लता का बीज प्राप्त करता है।” सारे जीव ब्रह्माण्ड भर में भ्रमण कर रहे हैं, कभी वे उच्चतर लोकों को जाते हैं कभी निम्न लोकों को प्राप्त होते हैं। यह भवरोग है, जो *प्रवृत्ति-मार्ग* कहलाता है। जब मनुष्य बुद्धिमान बन जाता है, तो वह *निवृत्ति मार्ग* को ग्रहण करता है और तब वह इस भौतिक जगत में भ्रमण करने के बजाय भगवद्धाम को वापस जाता है। यह अनिवार्य है।

**अधर्मलक्षणा नाना नरकाश्चानुवर्णिताः ।**

मन्वन्तरश्च व्याख्यात आद्यः स्वायम्भुवो यतः ॥ ३ ॥

### शब्दार्थ

अधर्म-लक्षणाः—अपवित्र कार्यों के लक्षणों से युक्त; नाना—विविध; नरकाः—नरक; च—भी; अनुवर्णिताः—वर्णित किये गये; मनु-अन्तरः—मनुओं का परिवर्तन ( ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु होते हैं ); च—भी; व्याख्यातः—वर्णन किये गये; आद्यः—आदि; स्वायम्भुवः—ब्रह्माजी के पुत्र; यतः—जिसमें।

आपने नारकीय जीवन की उन विविध योनियों का भी वर्णन ( पंचम स्कन्ध के अन्त में ) किया है, जो पाप कार्यों से फलित हैं और आपने प्रथम मन्वन्तर का वर्णन ( चतुर्थ स्कन्ध में ) किया है, जिसकी अध्यक्षता ब्रह्मा के पुत्र स्वायम्भुव मनु ने की थी।

प्रियव्रतोत्तानपदोर्वशस्तच्चरितानि च ।

द्वीपवर्षसमुद्राद्रिनद्युद्यानवनस्पतीन् ॥ ४ ॥

धरामण्डलसंस्थानं भागलक्षणमानतः ।

ज्योतिषां विवराणां च यथेदमसृजद्विभुः ॥ ५ ॥

### शब्दार्थ

प्रियव्रत—प्रियव्रत का; उत्तानपदोः—तथा उत्तानपाद का; वंशः—कुल; तत्-चरितानि—उनके गुण; च—भी; द्वीप—विभिन्न लोक; वर्ष—भूभाग; समुद्र—सागर; अद्रि—पर्वत; नदी—नदियाँ; उद्यान—बाग-बगीचे; वनस्पतीन्—तथा वृक्ष; धरा-मण्डल—पृथ्वी; संस्थानम्—स्थिति को; भाग—विभागों के अनुसार; लक्षण—विभिन्न लक्षण; मानतः—तथा मापें; ज्योतिषाम्—सूर्य तथा अन्य प्रकाशपिंडों का; विवराणाम्—निम्नलोकों का; च—तथा; यथा—जिस तरह; इदम्—यह; असृजत्—उत्पन्न किया; विभुः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने।

हे प्रभु! आपने राजा प्रियव्रत तथा राजा उत्तानपाद के कुलों तथा गुणों का वर्णन किया है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने इस भौतिक जगत की रचना विविध ब्रह्माण्डों, लोकों, ग्रहों तथा नक्षत्रों, विविध भूभागों, समुद्रों, नदियों, उद्यानों तथा वृक्षों से की जिनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। ये इस धरालोक, आकाश के प्रकाशपिंडों तथा अधोलोकों में विभाजित हैं। आपने इन लोकों का तथा इनमें रहने वाले जीवों का बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है।

तात्पर्य : यहाँ पर यथेदम् असृजद् विभुः शब्दों से यह स्पष्ट रूप से लक्षित होता है कि सर्वशक्तिमान भगवान् ने इस सम्पूर्ण भौतिक जगत की सृष्टि विविध प्रकार के लोकों, नक्षत्रों इत्यादि से की। नास्तिक लोग ईश्वर के हाथ को, जो प्रत्येक सृष्टि में उपस्थित रहता है, छिपाना चाहते हैं, किन्तु वे इसकी व्याख्या नहीं कर सकते कि ये सारी सृष्टियाँ बिना किसी दक्ष बुद्धि तथा

सर्वशक्तिमान-बल के कैसे उत्पन्न हुई। केवल कल्पना करना या चिन्तन करना समय का अपव्यय है। *भगवद्गीता* (१०.८) में भगवान् कहते हैं—*अहं सर्वस्यप्रभवः*—मैं हर वस्तु का उद्गम हूँ। *मत्तःसर्वं प्रवर्तते*—सृष्टि में जो भी विद्यमान है, वह मुझसे उद्भूत है। *इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः*—जब मनुष्य पूरी तरह से यह समझ लेता है कि मैं अपनी सर्वशक्तिमत्ता से हर वस्तु को उत्पन्न करता हूँ तो वह भक्ति में दृढ़ हो जाता है और मेरे चरणकमलों में पूर्णतया समर्पण कर देता है।” दुर्भाग्यवश अज्ञानी व्यक्ति कृष्ण की सर्वश्रेष्ठता को तुरन्त नहीं समझ पाते। फिर भी यदि वे भक्तों की संगति करते हैं और प्रामाणिक पुस्तकें पढ़ते हैं, तो वे धीरे-धीरे सही ज्ञान को प्राप्त होते हैं, यद्यपि इसमें अनेकानेक जन्म लग सकते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१९) में कृष्ण कहते हैं—

*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।*

*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥*

“जो वास्तव में ज्ञानी होता है, वह अनेक जन्म-जन्मांतर के बाद मुझे समस्त कारणों का कारण जानकर मेरी शरण ग्रहण करता है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है।” वासुदेव, कृष्ण हर वस्तु के स्रष्टा हैं और उनकी शक्ति विविध प्रकारों से प्रदर्शित होती है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.४-५) में बतलाया गया है, जीव भौतिक शक्ति ( *भूमिरापोऽनलो वायुः*) तथा आध्यात्मिक शक्ति का संयोग है और वह हर सृष्टि में पाया जाता है। अतएव एक ही सिद्धान्त—सर्वोच्च चेतन आत्मा तथा भौतिक तत्त्वों का संयोग—विराट जगत का कारण है।

अधुनेह महाभाग यथैव नरकान्नरः ।

नानोग्रयातनान्नेयात्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥

#### शब्दार्थ

अधुना—सम्प्रति; इह—इस भौतिक जगत में; महा-भाग—हे महान् ऐश्वर्यवान् तथा भाग्यशाली शुकदेव गोस्वामी;  
यथा—जिससे; एव—निस्सन्देह; नरकान्—नारकीय स्थितियाँ जिनमें अधर्मियों को रखा जाता है; नरः—मनुष्य; नाना—



अनेक प्रकार के; उग्र—भयावह; यातनान्—यातनाओं या कष्टों को; न ईयात्—नहीं भोगें; तत्—वह; मे—मुझसे; व्याख्यातुम् अर्हसि—कृपा करके वर्णन करें।

हे परम भाग्यशाली तथा ऐश्वर्यवान् शुकदेव गोस्वामी! अब आप कृपा करके मुझे बतलायें कि मनुष्यों को किस तरह उन नारकीय स्थितियों में प्रवेश करने से बचाया जा सकता है जिनमें उन्हें भीषण यातनाएँ सहनी पड़ती हैं।

तात्पर्य : पंचम स्कन्ध के छब्बीसवें अध्याय में शुकदेव गोस्वामी ने बतलाया है कि जो लोग पापकर्म करते हैं, उन्हें नरक लोकों में प्रवेश करने के लिए तथा कष्ट उठाने के लिए बाध्य किया जाता है। चूँकि महाराज परीक्षित भक्त हैं, अतः अब उन्हें चिन्ता है कि इसे किस तरह रोका जा सकता है। वैष्णव परदुःख दुःखी होता है। दूसरे शब्दों में, उसे निजी कष्ट नहीं होता, किन्तु अन्यो को दुखी देखकर वह दुखी होता है। प्रह्लाद महाराज ने कहा, “हे प्रभु! मेरी अपनी समस्याएँ नहीं हैं, क्योंकि मैंने आपके दिव्य गुणों का गुणगान करना सीख लिया है, अतएव मैं भाव-समाधि में प्रवेश कर सकता हूँ। किन्तु मेरी एक समस्या है, क्योंकि मैं इन धूर्तों तथा मूर्खों के विषय में सोचता रहता हूँ जो माया-सुख अर्थात् क्षणिक सुख में लगे हैं और जिन्हें आपकी भक्ति का कोई ज्ञान नहीं है।” वैष्णव के समक्ष यही समस्या रहती है। चूँकि वैष्णव पूर्णतया पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के शरणागत होता है, अतएव उसकी अपनी कोई समस्या नहीं रहती, किन्तु पतित बद्धात्माओं के प्रति दयालु होने से वह उनको इस जीवन में तथा अगले जीवन में नारकीय जीवन से बचाने की योजनाओं के विषय में सदैव सोचता रहता है। इसीलिए परीक्षित महाराज ने उत्सुकतापूर्वक शुकदेव गोस्वामी से यह जानना चाहा कि मानवता को किस तरह नरक में गिरने से बचाया जा सकता है? शुकदेव गोस्वामी पहले ही बता चुके थे कि लोग किस तरह नारकीय जीवन में प्रवेश करते हैं और वे यह भी बता सकते हैं कि उन्हें किस तरह से बचाया जा सकता है। बुद्धिमान लोगों को इन उपदेशों का लाभ उठाना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्यवश सम्पूर्ण जगत में कृष्णभावनामृत का अभाव है, अतः लोग घोर अज्ञान से पीड़ित हैं और इस जीवन के बाद के जीवन में विश्वास तक नहीं करते। उनके अगले जीवन के विषय में आश्वस्त कर पाना बहुत कठिन

है, क्योंकि वे भौतिक भोग के पीछे भागने में मदान्धप्राय हो चुके हैं। फिर भी हमारा कर्तव्य है, सारे विज्ञ जनों का कर्तव्य है कि उनको बचाएँ। महाराज परीक्षित उनके प्रतिनिधि हैं, जो उन्हें बचा सकता है।

श्रीशुक उवाच

न चेदिहैवापचितिं यथांहसः

कृतस्य कुर्यान्मनउक्तपाणिभिः ।

ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति

ये कीर्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा; न—नहीं; चेत्—यदि; इह—इस जीवन में; एव—निश्चय ही; अपचितिम्—प्रतिकार, प्रायश्चित्त; यथा—भलीभाँति; अंहसः कृतस्य—जब मनुष्य पापकर्म कर चुका होता है; कुर्यात्—करता है; मनः—मन से; उक्त—शब्दों से; पाणिभिः—तथा इन्द्रियों से; ध्रुवम्—निश्चित रूप से; सः—वह व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; प्रेत्य—मृत्यु के बाद; नरकान्—नाना प्रकार की नारकीय स्थितियाँ; उपैति—प्राप्त करता है; ये—जो; कीर्तिताः—पहले ही वर्णित की जा चुकी हैं; मे—मेरे द्वारा; भवतः—तुमसे; तिग्म-यातनाः—जिनमें अति भीषण कष्ट है।

शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया—हे राजन्! यदि मनुष्य अपनी अगली मृत्यु के पूर्व इस जन्म में अपने मन, वचन तथा शरीर से किये गये पाप कर्मों का मनुसंहिता तथा अन्य धर्मशास्त्रों के विवरण के अनुसार समुचित प्रायश्चित्त द्वारा निराकरण नहीं कर लेता है, तो वह मृत्यु के बाद अवश्य ही नरकलोकों में प्रविष्ट होगा और भीषण कष्ट उठायेगा, जैसा कि मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उल्लेख करते हैं कि यद्यपि महाराज परीक्षित शुद्ध भक्त थे फिर भी शुकदेव गोस्वामी ने तुरन्त ही भक्ति की शक्ति के विषय में उन्हें नहीं बतलाया।

जैसा कि भगवद्गीता (१४.२६) में कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

भक्ति इतनी प्रबल होती है कि यदि कोई पूरी तरह से कृष्ण की शरण ग्रहण कर ले और पूरी

तरह उनकी भक्ति करे तो उसके पापमय जीवन के सारे फल तुरन्त समाप्त हो जाते हैं ।

गीता में अन्यत्र (१८.६६) भगवान् कृष्ण मनुष्य को प्रेरित करते हैं कि अन्य सारे कर्मों को त्यागकर उनकी शरण में आये। और वे वचन देते हैं कि—*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*—मैं तुम्हें सारे पापों के फलों से मुक्त कर दूँगा और तुम्हें मोक्ष प्रदान करूँगा। इसलिए परीक्षित महाराज के प्रश्नों के उत्तर में उनके गुरु शुकदेव महाराज तुरन्त ही भक्तियोग की व्याख्या कर सकते थे, किन्तु परीक्षित महाराज की बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम कर्मकाण्ड के अनुसार प्रायश्चित्त की संस्तुति की। कर्मकाण्ड के लिए अस्सी प्रामाणिक शास्त्र हैं, यथा मनुसंहिता, जो धर्मशास्त्र कहलाते हैं। इन शास्त्रों में मनुष्य को अन्य प्रकार के सकाम कर्म करके पापकर्मों का निराकरण करने का परामर्श दिया गया है। शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को सर्वप्रथम इसी मार्ग की संस्तुति करने की सलाह दी है और यह तथ्य है कि जो व्यक्ति भक्ति स्वीकार नहीं करता उसे अपने अपवित्र कर्मों के निराकरण के लिए इन शास्त्रों के निर्णय को मान कर कार्य करना होता है। यही प्रायश्चित्त कहलाता है।

तस्मात्पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ

यतेत मृत्योरविपद्यतात्मना ।

दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा

भिषक्त्रिकित्सेत रुजां निदानवित् ॥ ८ ॥

#### शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; पुरा—पहले; एव—निस्सन्देह; आशु—तुरन्त; इह—इस जीवन में; पाप-निष्कृतौ—पापकर्मों के फल से मुक्त बनने के लिए; यतेत—प्रयत्न करे; मृत्योः—मृत्यु; अविपद्यत—रोग तथा वृद्धावस्था से सताया हुआ नहीं; आत्मना—शरीर से; दोषस्य—पापकर्मों का; दृष्ट्वा—अनुमान करके; गुरु-लाघवम्—भारीपन या हल्कापन; यथा—जिस तरह; भिषक्—वैद्य; चिकित्सेत—उपचार करेगा; रुजाम्—रोग का; निदान-वित्—निदान में निपुण।

अतः अगली मृत्यु आने के पूर्व, जब तक मनुष्य का शरीर पर्याप्त सशक्त है, उसे शास्त्रों के अनुसार प्रायश्चित्त की विधि तुरन्त अपनानी चाहिए; अन्यथा समय की क्षति होगी और उसके पापों का फल बढ़ता जायेगा। जिस तरह एक कुशल वैद्य रोग का निदान और उपचार

उसकी गम्भीरता के अनुसार करता है, उसी तरह मनुष्य को अपने पापों की गहनता के अनुसार प्रायश्चित्त करना चाहिए।

**तात्पर्य :** *मनुसंहिता* जैसे धार्मिक शास्त्रों में संस्तुति की गई है कि हत्या करने वाले व्यक्ति को फाँसी देनी चाहिए और प्रायश्चित्त में उसके जीवन की बलि दी जानी चाहिए। पहले सारे विश्व में यह पद्धति अपनाई जाती थी, किन्तु नास्तिक बनते जाने के कारण लोग इस प्राणदण्ड को बन्द कर रहे हैं। यह बुद्धिमानी नहीं है। यहाँ पर यह कहा गया है कि जो वैद्य रोग का निदान करना जानता है, वह उसी के अनुसार दवा की संस्तुति करता है। यदि रोग अति गम्भीर हो तो दवा को सशक्त होना चाहिए। हत्यारे के पाप का भार बहुत बड़ा होता है, अतएव *मनुसंहिता* के अनुसार हत्यारे का वध कर दिया जाना चाहिए। हत्यारे का वध करके सरकार उस पर कृपा करती है, क्योंकि यदि हत्यारे का इसी जीवन में वध नहीं कर दिया जाता तो अगले जन्मों में उसका अनेक बार वध किया जायेगा और उसे कष्ट भोगने के लिए बाध्य किया जायेगा। चूँकि लोग अगले जीवन तथा प्रकृति की जटिल कार्यशैली के विषय में नहीं जानते, अतएव वे अपने कानून बनाते हैं, किन्तु उन्हें चाहिए कि शास्त्रों द्वारा स्थापित आदेशों का उचित रीति से अवगाहन करें और उन्हीं के अनुसार कर्म करें। भारत में आज भी हिन्दू-समुदाय प्रायः इस विषय में कुशल पंडितों से विचार-विमर्श करता है कि पापकर्मों का निराकरण कैसे किया जाये। ईसाई धर्म में भी पाप कर्म को स्वीकार करने तथा उस का पश्चाताप करने की प्रक्रिया होती है, अतएव प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़ती है और मनुष्य के पापकर्मों की गम्भीरता के अनुसार ही प्रायश्चित्त करना चाहिए।

श्रीराजोवाच

दृष्टश्रुताभ्यां यत्यापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम् ।

करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम् ॥ ९ ॥

**शब्दार्थ**

श्री-राजा उवाच—परीक्षित महाराज ने उत्तर दिया; दृष्ट—देखने से; श्रुताभ्याम्—शास्त्रों या विधि ग्रन्थों से सुनने से भी; यत्—चूँकि; पापम्—पापपूर्ण, अपराध पूर्ण कार्य; जानन्—जानते हुए; अपि—यद्यपि; आत्मनः—स्वयं का; अहितम्—

हानिकर; करोति—करता है; भूयः—पुनः पुनः; विवशः—अपने को नियंत्रित करने में अक्षम; प्रायश्चित्तम्—प्रायश्चित्त; अथो—इसलिए; कथम्—क्या लाभ।

महाराज परीक्षित ने कहा कि मनुष्य को जानना चाहिए कि पापकर्म उसके लिए हानिकर है, क्योंकि वह वस्तुतः यह देखता है कि अपराधी सरकार द्वारा दण्डित किया जाता है और सामान्य लोगों के द्वारा दुत्कारा जाता है। और वह शास्त्रों तथा विद्वान पंडितों से सुनता भी रहता है कि पापकर्म करने से मनुष्य अगले जीवन में नारकीय अवस्था में फेंक दिया जाता है। फिर भी ऐसा ज्ञान होते हुए मनुष्य को प्रायश्चित्त करने के बावजूद बारम्बार पाप करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। अतः ऐसे प्रायश्चित्त का क्या महत्त्व?

तात्पर्य : कुछ धार्मिक सम्प्रदायों में पापी व्यक्ति अपने पाप-कर्मों को कबूलने के लिए तथा जुर्माना देने के लिए पुरोहित के पास जाता है, किन्तु उसके बाद वह पुनः वही पाप करता है और उसे स्वीकारने के लिए पुनः आता है। यह पेशेवर पापी की आदत है। परीक्षित महाराज के कहने से सूचित होता है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी अपराधियों में अपने अपराधों के लिए प्रायश्चित्त करने और पुनः उन्हीं अपराधों को करने की प्रथा थी, मानो उनसे ये कराये जा रहे हों, इसलिए अपने व्यावहारिक अनुभव के फलस्वरूप परीक्षित महाराज ने देखा कि बारम्बार पाप करने तथा प्रायश्चित्त करने की विधि व्यर्थ है। कोई कितनी ही बार दण्डित क्यों न किया जाये, यदि वह इन्द्रियभोग के प्रति आसक्त है, तो वह तब तक बारम्बार पापकर्म करेगा जब तक उसे अपनी इन्द्रियों का भोग करने से दूर रहने का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता। यहाँ पर *विवश* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो यह सूचित करता है कि जो पापकर्म नहीं करना चाहता उसे भी आदतवश पापकर्म करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। इसीलिए महाराज परीक्षित ने मनुष्य को उसके पापकर्मों से बचाने के लिए प्रायश्चित्त-विधि को बहुत ही अल्प महत्त्व का माना। अगले श्लोक में उनके द्वारा इस विधि के तिरस्कार किये जाने की व्याख्या की गई है।

क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात्क्वचिच्चरति तत्पुनः ।

प्रायश्चित्तमथोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत् ॥ १० ॥

### शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; निवर्तते—बन्द कर देता है; अभद्रात्—पापकर्मों से; क्वचित्—कभी; चरति—करता है; तत्—वह ( पापकर्म ); पुनः—फिर; प्रायश्चित्तम्—प्रायश्चित्त की विधि; अथो—इसलिए; अपार्थम्—व्यर्थ; मन्ये—मानता हूँ; कुञ्जर-शौचवत्—हाथी के स्नान की ही तरह।

कभी-कभी ऐसा व्यक्ति, जो पापकर्म न करने के प्रति अत्यधिक सतर्क रहता है पुनः पापमय जीवन के फेर में आ जाता है। इसलिए मैं बारम्बार पाप करने तथा प्रायश्चित्त करने की इस विधि को निरर्थक मानता हूँ। यह तो हाथी के स्नान करने जैसा है, क्योंकि हाथी पूर्ण स्नान करके अपने को स्वच्छ बनाता है, किन्तु स्थल पर वापस आते ही अपने सिर तथा शरीर पर धूल डाल लेता है।

तात्पर्य : जब परीक्षित महाराज ने पूछा कि मनुष्य किस तरह पापकर्मों से अपने को मुक्त कर सकता है, जिससे उसे मृत्यु के बाद नरकलोक में जाने के लिए बाध्य न होना पड़े तो शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया कि पापमय जीवन के निराकरण की विधि तो प्रायश्चित्त है। इस तरह से शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित की बुद्धि की परीक्षा ली और परीक्षित इस विधि को प्रामाणिक मानने से इनकार करके उस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। अब परीक्षित महाराज अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से दूसरे उत्तर की अपेक्षा कर रहे हैं।

### श्रीबादरायणिरुवाच

कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते ।

अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥ ११ ॥

### शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—व्यासपुत्र शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया; कर्मणा—कर्म से; कर्म-निर्हारः—सकाम कर्मों का निराकरण; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; आत्यन्तिकः—अन्तिम; इष्यते—सम्भव होता है; अविद्वत्-अधिकारित्वात्—ज्ञान हुए बिना; प्रायश्चित्तम्—असली प्रायश्चित्त; विमर्शनम्—वेदान्त का पूर्ण ज्ञान।

वेदव्यास-पुत्र शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया : हे राजन्! चूँकि अपवित्र कर्मों को निष्प्रभावित करने के उद्देश्य से किये गये कर्म भी सकाम होते हैं, अतएव वे मनुष्य को सकाम कर्म करने की प्रवृत्ति से छुटकारा नहीं दिला सकते। जो व्यक्ति अपने को प्रायश्चित्त

के विधि-विधानों के अधीन बना लेते हैं, वे तनिक भी बुद्धिमान नहीं हैं। अपितु, वे सभी तमोगुण में होते हैं। जब तक मनुष्य तमोगुण से मुक्त नहीं हो जाता, तब तक एक कर्म का दूसरे से निराकरण करने का प्रयास करना निरर्थक है, क्योंकि इससे मनुष्य की इच्छाओं का उन्मूलन नहीं होगा। इस तरह ऊपर से पवित्र लगने वाला व्यक्ति निस्सन्देह पाप पूर्ण कर्म करने के लिए उन्मुख होगा। अतएव असली प्रायश्चित्त तो पूर्ण ज्ञान अर्थात् वेदान्त में प्रबुद्ध होना है, जिससे मनुष्य परम सत्य भगवान् को समझता है।

तात्पर्य : गुरु शुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित महाराज की परीक्षा ले ली है और ऐसा लगता है कि राजा ने सकाम कर्म से युक्त प्रायश्चित्त विधि का खण्डन करके परीक्षा की एक अवस्था उत्तीर्ण कर ली है। अब शुकदेव गोस्वामी चिन्तनपरक ज्ञान के पद का सुझाव रख रहे हैं। *कर्मकाण्ड* से *ज्ञानकाण्ड* की ओर अग्रसर होते हुए वे *प्रायश्चित्तं विमर्शनम्*—असली प्रायश्चित्त तो पूर्ण ज्ञान है— का सुझाव रखते हैं। *विमर्शन* चिन्तनपरक ज्ञान के अनुशीलन का द्योतक है। *भगवद्गीता* में ज्ञान से विहीन कर्मियों की तुलना गधों से की गई है। *भगवद्गीता* (७.१५) में कृष्ण कहते हैं—

*न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।*

*माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥*

“वे दुष्ट जो नितान्त मूर्ख हैं, मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान माया ने हर लिया है और जो असुरों के नास्तिकतावादी स्वभाव में भागीदार बनते हैं, वे मेरी शरण में नहीं आते।” इस तरह वे कर्मी जो पापकर्म में लिप्त रहते हैं और जीवन के असली लक्ष्य को नहीं जानते मूढ़ या गधे कहलाते हैं। किन्तु *विमर्शन* की व्याख्या *भगवद्गीता* में भी (१५.१५) हुई है जहाँ पर कृष्ण कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः—वैदिक अध्ययन का उद्देश्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझना है।* यदि कोई वेदान्त का अध्ययन करता है और चिन्तनपरक ज्ञान में ही प्रगति करता है परन्तु परमेश्वर को नहीं समझता तो वह मूढ़ का मूढ़ बना रहता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—जब मनुष्य कृष्ण को समझता है और उनकी शरण में आ जाता है तभी उसे असली ज्ञान प्राप्त

होता है ( बहूनां जन्मनामन्तेज्ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ) । इसलिए विद्वान तथा भौतिक कल्मष से मुक्त बनने के लिए मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण को समझने का प्रयास करे, क्योंकि ऐसा करने से वह समस्त पवित्र तथा अपवित्र कर्मों ( पाप-पुण्य ) तथा उनके फलों से तुरन्त छूट जाता है ।

नाशनतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि ।

एवं नियमकृद्राजशानैः क्षेमाय कल्पते ॥ १२ ॥

### शब्दार्थ

न—नहीं; अशनतः—खाने वाला; पथ्यम्—उपयुक्त; एव—निस्सन्देह; अन्नम्—भोजन; व्याधयः—विभिन्न प्रकार के रोग; अभिभवन्ति—घेर लेते हैं; हि—निस्सन्देह; एवम्—इसी प्रकार; नियम-कृत्—नियमों का पालन करने वाला; राजन्—हे राजा; शानैः—धीरे-धीरे; क्षेमाय—कल्याण के हेतु; कल्पते—स्वस्थ हो जाता है ।

हे राजन्! यदि रुग्ण व्यक्ति वैद्य द्वारा बताया गया शुद्ध अदूषित अन्न खाता है, तो वह धीरे-धीरे अच्छा हो जाता है और तब रोग का संक्रमण उसे छू तक नहीं पाता । इसी तरह यदि कोई ज्ञान के विधि-विधानों का पालन करता है, तो वह धीरे-धीरे भौतिक कल्मष से मोक्ष की ओर प्रगति करता है ।

तात्पर्य : भले ही मनुष्य ज्ञान का अनुशीलन मानसिक चिन्तन द्वारा करता रहे, किन्तु यदि वह शास्त्रों द्वारा तथा अगले श्लोक में बताये गये विधि-विधानों का पालन करता है, तो वह धीरे-धीरे शुद्ध बन जाता है । इसलिए ज्ञान का पद-कर्म के पद से श्रेयस्कर है । कर्म के पद से नारकीय अवस्थाओं में गिरने की सम्भावना सदा रहती है, किन्तु ज्ञान के पद पर वह नारकीय जीवन से बच जाता है, यद्यपि वह छूत से पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ होता । कठिनाई यह है कि ज्ञान के पद पर मनुष्य यह सोचता है कि वह मुक्त हो चुका है और नारायण या भगवान् बन चुका है । अज्ञान का यह दूसरा चरण है ।

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन

स्त्वय्यस्तभावाद् अविशुद्धबुद्धयः ।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः



पतन्त्यधोऽनाहतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

( भागवत १०.२.३२ )

अज्ञानवश मनुष्य अपने को भौतिक कल्मष से मुक्त सोचता है, जबकि वास्तव में वह ऐसा होता नहीं। इसलिए ब्रह्मज्ञान तक ऊपर उठ जाने पर भी मनुष्य नीचे गिर जाता है, क्योंकि वह कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं की होती। तो भी ज्ञानीजन कम से कम यह तो जानते हैं कि क्या पाप है और क्या पुण्य है और वे शास्त्रों के आदेशों के अनुसार अति सतर्कतापूर्वक कर्म करते हैं।

तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च ।

त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन वा ॥ १३ ॥

देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः ।

क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानलः ॥ १४ ॥

### शब्दार्थ

तपसा—तपस्या या भौतिक भोग का स्वेच्छा से तिरस्कार द्वारा; ब्रह्मचर्येण—ब्रह्मचर्य द्वारा; शमेन—मन को वश में करने से; च—तथा; दमेन—इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करने से; च—भी; त्यागेन—स्वेच्छा से उत्तम कार्यों के लिए दान देने से; सत्य—सत्यता से; शौचाभ्याम्—तथा अपने आपको भीतर-बाहर से स्वच्छ रखने के विधानों का पालन करने से; यमेन—शाप देने तथा अहिंसा से बचने से; नियमेन—भगवान् के नाम का नियमित कीर्तन करने से; वा—तथा; देह-वाक्-बुद्धि-जम्—शरीर, वाणी तथा बुद्धि के द्वारा सम्पन्न; धीराः—धीर लोग; धर्म-ज्ञाः—धार्मिक सिद्धान्तों के ज्ञान से पूरित; श्रद्धया अन्विताः—श्रद्धा से युक्त; क्षिपन्ति—नष्ट करते हैं; अघम्—सभी प्रकार के पापकर्मों को; महत् अपि—यद्यपि अति महान् तथा निन्दनीय; वेणु-गुल्मम्—बाँस के वृक्ष के नीचे की सूखी लतर; इव—सदृश; अनलः—अग्नि।

मन को एकाग्र करने के लिए मनुष्य को ब्रह्मचर्य जीवन बिताना चाहिए और अधःपतित नहीं होना चाहिए। उसे इन्द्रिय-भोग को स्वेच्छा से त्यागने की तपस्या करनी चाहिए। तब उसे मन तथा इन्द्रियों को वश में करना चाहिए, दान देना चाहिए, सत्यव्रती, स्वच्छ तथा अहिंसक होना चाहिए, विधि-विधानों का पालन करना चाहिए और नियमपूर्वक भगवन्नाम का कीर्तन करना चाहिए। इस तरह धार्मिक सिद्धान्तों को जानने वाला धीर तथा श्रद्धावान् व्यक्ति अपने शरीर, वचन तथा मन से किये गये सारे पापों से अस्थायी रूप से शुद्ध हो जाता है। ये पाप बाँस के पेड़ के नीचे की लतरों की सूखी पत्तियों के समान हैं,

जिन्हें अग्नि द्वारा जलाया जा सकता है, यद्यपि उनकी जड़ें अवसर पाते ही फिर से उगने के लिए शेष बची रहती हैं।

**तात्पर्य :** स्मृति शास्त्र में तपः की व्याख्या इस प्रकार हुई है : *मनसश्चेन्द्रियाणाँ च एकाग्रं परमं तपः*—मन तथा इन्द्रियों का पूर्ण नियंत्रण तथा एक ही प्रकार के कार्य में उनकी पूर्ण एकाग्रता तपः कहलाती है। हमारा कृष्णभावनामृत-आन्दोलन लोगों को यह शिक्षा देता है कि मन को भक्ति पर किस तरह एकाग्र करना चाहिए। यह उच्चकोटि का तपः है। ब्रह्मचर्य के आठ पक्ष होते हैं—मनुष्य को न तो स्त्रियों के बारे में सोचना चाहिए, न यौन जीवन की चर्चा करनी चाहिए, न स्त्रियों के साथ क्रीडा करनी चाहिए, न स्त्रियों की ओर कामुक होकर देखना चाहिए, न उनसे घनिष्ठतापूर्वक बातें करनी चाहिए, न संभोग में रत होने का निर्णय लेना चाहिए, न ही यौन जीवन के लिए कभी प्रयास करना चाहिए। मनुष्य को स्त्रियों के बारे में सोचना या उनकी ओर ताकना तक नहीं चाहिए, बातें करना तो दूर रहा। इसे ही उच्चकोटि का ब्रह्मचर्य कहते हैं। यदि कोई ब्रह्मचारी या संन्यासी एकान्त में किसी स्त्री से बातें करता है तो स्वाभाविक है कि बिना किसी के जाने ही यौन जीवन की सम्भावना बनी रहती है। इसलिए पूर्ण ब्रह्मचारी इसके विपरीत अभ्यास करता है। यदि वह पूर्ण ब्रह्मचारी है, तो वह बहुत आसानी से मन तथा इन्द्रियों को वश में कर सकता है, दान दे सकता है, सत्य बोल सकता है, आदि आदि। किन्तु प्रारम्भ में उसे जीभ तथा खाने पर नियंत्रण करना होगा।

भक्तिमार्ग में मनुष्य को सर्वप्रथम जीभ को नियंत्रित करके दृढ़तापूर्वक विधि-विधानों का पालन करना चाहिए (*सेवान्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः*)। जीभ को वश में किया जा सकता है यदि मनुष्य हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करे, कृष्ण से सम्बद्ध विषयों के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर न बोले तथा ऐसी किसी वस्तु का आस्वादन न करे जो कृष्ण को अर्पित न की गई हो। यदि वह इस तरह जीभ को वश में कर सकता है, तो ब्रह्मचर्य तथा अन्य शुद्ध करने वाली प्रक्रियाएँ स्वतः ही पीछे-पीछे चलेंगी। अगले श्लोक में बतलाया जायेगा कि भक्ति का मार्ग परम

पूर्ण है, अतएव यह कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग से श्रेष्ठतर है। वेदों से उद्धरण देते हुए श्रील वीरराघव आचार्य बतलाते हैं कि जितनी पूर्णता से सम्भावित हो, व्रत रखना तपस्या में सम्मिलित हो जाता है (तपसानाशकेन)। श्रील रूप गोस्वामी ने भी अत्याहार अर्थात् अधिक भोजन करने को आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में बाधक बतलाया है। यही नहीं, भगवद्गीता (६.१७) में कृष्ण कहते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

“जो खाने, सोने, मनोरंजन तथा काम करने की आदतों में नियमित रहता है, वह योगाभ्यास द्वारा समस्त भौतिक क्लेशों को कम कर सकता है।”

श्लोक १४ में धीराः शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है “जो सभी परिस्थितियों में अविचल रहते हैं।” भगवद्गीता (२.१४) में कृष्ण अर्जुन को बताते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण-सुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

“हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का क्षणिक उदय तथा कालक्रम में उनका अन्तर्धान होना सर्दी तथा गर्मी की ऋतुओं के आने-जाने के समान है। हे भरतवंशी! वे इन्द्रियबोध से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उनको सहन करना सीखे।” भौतिक जगत में अनेक उलझनें आती हैं (अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक)। जिस व्यक्ति ने सभी परिस्थितियों में इन संकटों को सहन करना सीख लिया है, वह धीर कहलाता है।

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।

अघं धुन्वन्ति कात्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

केचित्—कुछ लोग; केवलया भक्त्या—शुद्ध भक्ति के द्वारा; वासुदेव—सर्वव्यापक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के प्रति; परायणा:—पूर्णतया आसक्त ( तपस्या, ज्ञान के अनुशीलन या पुण्यकर्मों पर आश्रित रहे बिना ऐसी सेवा के प्रति ); अघम्—सभी प्रकार के पापपूर्ण फल; धुन्वन्ति—विनष्ट करते हैं; कात्स्न्येन—पूर्णतया ( इसकी ) सम्भावना के बिना कि पापपूर्ण इच्छाएँ पुनर्जीवित होंगी; नीहारम्—कुहरा; इव—सदृश; भास्करः—सूर्य।

कोई विरला व्यक्ति ही, जिसने कृष्ण की पूर्ण शुद्ध भक्ति को स्वीकार कर लिया है, उन पापपूर्ण कार्यों के खरपतवार को समूल नष्ट कर सकता है जिनके पुनरुज्जीवित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। वह भक्तियोग सम्पन्न करके इसे कर सकता है, जिस तरह सूर्य अपनी किरणों से कुहरे को तुरन्त उड़ा देता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में शुकदेव गोस्वामी ने यह उदाहरण दिया था कि बाँस के पेड़ के नीचे की लतरों की सूखी पत्तियाँ अग्नि द्वारा पूरी तरह से जलाकर राख कर दी जाती हैं, यद्यपि लतरें फिर से अंकुरित हो सकती हैं, क्योंकि उनकी जड़ें अब भी जमीन के भीतर हैं। इसी तरह चूँकि पापपूर्ण इच्छा रूपी जड़ उस मनुष्य के हृदय से विनष्ट नहीं हुई है, जो ज्ञान का तो अनुशीलन कर रहा है, किन्तु जिसमें भक्ति के प्रति रुचि नहीं है, अतः उसकी पापपूर्ण इच्छाएँ पुनः प्रकट होने की सम्भावना रहती है। जैसाकि श्रीमद्भागवत ( १०.१४.४ ) में कहा गया है—

*श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो*

*क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ॥*

जो चिन्तक पाप तथा पुण्य कर्मों ( शुभाशुभ ) में अन्तर करते हुए भौतिक जगत का ठोस ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यधिक श्रम करते हैं, किन्तु भक्ति को प्राप्त नहीं हैं वे भौतिक कार्यों के प्रति उन्मुख रहते हैं। वे नीचे गिर कर सकाम कर्मों में लिप्त हो सकते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति भक्ति के प्रति आसक्त होता है, तो भौतिक भोग की उसकी इच्छाएँ बिना किसी पृथक् प्रयास के स्वतः ही नष्ट हो जाती हैं। भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिन्यत्र च—यदि कोई कृष्णभावनामृत में उन्नत है, तो उसके लिए भौतिक कर्म, पाप तथा पुण्यकर्म दोनों ही, स्वतः स्वादहीन बन जाते हैं। यही कृष्णभावनामृत की परीक्षा है। पाप तथा पुण्यकर्म दोनों ही वास्तव में अज्ञान के कारण होते हैं, क्योंकि कृष्ण के नित्य दास के रूप में जीव को अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी नहीं

करना होता। अतः ज्योंही वह भक्ति के पद को प्राप्त करता है, वह पाप तथा पुण्य कर्मों के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग कर देता है और केवल उसी में रुचि लेता है, जिसमें कृष्ण तुष्ट हों। भक्ति की यह विधि या कृष्ण की भक्ति (वासुदेव-परायण) मनुष्य को सारे कर्मफलों से छुटकारा दिलाती है।

चूँकि महाराज परीक्षित महान् भक्त थे, अतएव उनके गुरु शुकदेव गोस्वामी द्वारा कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड विषयक दिये गये उत्तर उन्हें तुष्ट नहीं कर सके। इसलिए शुकदेव गोस्वामी ने अपने शिष्य के हृदय की बात जानते हुए भक्ति के दिव्य आनन्द की व्याख्या की। केचित् शब्द का यहाँ पर अर्थ है “कुछ लोग, सभी नहीं।” हर व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं हो सकता। जैसाकि कृष्ण ने भगवद्गीता (७.३) में बतलाया है—

*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।*

*यतताम् अपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥*

“कई हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और इस तरह सिद्धि प्राप्त करने वालों में से मुश्किल से कोई एक मुझे वास्तव में जान पाता है।” व्यावहारिक रूप से: कोई भी व्यक्ति कृष्ण को यथारूप में नहीं जान सकता, क्योंकि कृष्ण को पुण्यकर्मों या सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि द्वारा नहीं समझा जा सकता। वस्तुतः सर्वोच्च ज्ञान तो कृष्ण को समझना है। कृष्ण को न समझ पाने वाले अज्ञानी लोग यह सोचकर गर्व से फूले रहते हैं कि वे मुक्त हो गये हैं या कि वे कृष्ण या नारायण बन चुके हैं। यही अज्ञान है।

भक्ति की शुद्धता को सूचित करने के लिए श्रील रूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृत सिन्धु (१.१.११) में कहा है—

*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।*

*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥*

“मनुष्य को चाहिए कि परम भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति समर्पित होकर तथा भौतिक

लाभ या सकाम कर्मों अथवा दार्शनिक चिन्तन के द्वारा लाभ की इच्छा से रहित होकर करे। यही शुद्धभक्ति कहलाती है।” श्रील रूप गोस्वामी आगे यह भी बतलाते हैं कि *भक्ति क्लेशघ्नी शुभदा* है अर्थात् जो व्यक्ति भक्ति अंगीकार करता है उसके सभी प्रकार के अनावश्यक श्रम तथा भौतिक क्लेश पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं और उसे पूर्ण सौभाग्य प्राप्त होता है। भक्ति इतनी प्रबल है कि यह *मोक्षलघुताकृत* भी कही जाती है। दूसरे शब्दों में, यह मोक्ष की महत्ता को कम करती है।

अभक्तों को भौतिक कष्टों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि उनमें सकाम पापकर्म करने की प्रवृत्ति होती है। उनके हृदय में पापकर्म करने की इच्छा अज्ञान के कारण बनी रहती है। ये पापकर्म तीन कोटियों में विभाजित किये जाते हैं— *पातक*, *महापातक* तथा *अतिपातक*। इसके दो विभाग भी किये जाते हैं— *प्रारब्ध* तथा *अप्रारब्ध*। प्रारब्ध उन पापफलों का द्योतक है जिन्हें वर्तमान समय में भोगा जा रहा होता है और *अप्रारब्ध* द्योतक है...सम्भाव्य कष्ट के स्रोतों का। जब भी पापों के *बीज* फलित नहीं होते तो ये फल *अप्रारब्ध* कहलाते हैं। पापकर्म के ये बीज अदृश्य होते हैं, किन्तु ये असीम होते हैं असीम और इसका कोई भी पता नहीं लगा पाता है कि सर्वप्रथम उन्हें कब बोया गया था।, वे पापफल जो अंकुरित हो चुके हैं और जो प्रारब्ध कहलाते हैं और उनके कारण मनुष्य को या तो निम्न कुल में जन्म लेते या अन्य कष्टों से पीड़ित होते देखा जाता है।

किन्तु जब मनुष्य भक्ति ग्रहण करता है, तो पापमय जीवन की सारी अवस्थाएँ, जिनमें *प्रारब्ध*, *अप्रारब्ध* तथा *बीज* सम्मिलित हैं, समाप्त हो जाती हैं। *भगवद्गीता* (११.१४.१९) में भगवान् कृष्ण उद्धव को बताते हैं—

*यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।*

*तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥*

“हे उद्धव! मुझसे सम्बन्धित भक्ति उस प्रज्वलित अग्नि के समान है, जो इसमें डाले गये पापकर्म रूपी सारे ईंधन को जलाकर भस्म कर डालती है।” यह भक्ति जिस तरह से पापमय जीवन के फलों को समाप्त करती है, उसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* (३.३३.६) में एक श्लोक में

हुई है, जो भगवान् कपिलदेव ने अपनी माता देवहूति को उपदेश देते समय कहा था। देवहूति ने कहा—

*यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्*

*यत्त्वह्णाद् यत्स्मरणादपि क्वचित् ।*

*श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते*

*कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥*

“हे प्रभु! यदि चांडालों के परिवार में उत्पन्न हुआ व्यक्ति भी आपके यश को सुनता और बारम्बार उसका कीर्तन करता है, आपको नमस्कार करता है और आपका स्मरण करता है, तो वह ब्राह्मण से बढ़कर है, अतएव यज्ञ करने का पात्र है। इसलिए जिसने आपका साक्षात् दर्शन किया हो उसके विषय में क्या कहा जाए?”

*पद्मपुराण* में एक उक्ति है कि जिन व्यक्तियों के हृदय भगवान् विष्णु की भक्ति के प्रति अनुरक्त हैं, वे जीवन के समस्त पापफलों से तुरन्त मुक्त कर दिये जाते हैं। ये फल सामान्यतया चार अवस्थाओं में रहते हैं। इनमें से कुछ तुरन्त फल देने वाले होते हैं, कुछ बीज रूप में रहते हैं कुछ अव्यक्त रहते हैं और कुछ वर्तमान से सम्बन्धित होते हैं। ऐसे सारे फल भक्ति द्वारा तुरन्त निरस्त हो जाते हैं। जब किसी के हृदय में भक्ति उपस्थित होती है, तो पापकर्म करने की इच्छाओं के लिए उसमें कोई स्थान नहीं रह पाता। पापमय जीवन अज्ञान के कारण होता है, जिसका अर्थ है ईश्वर के नित्य दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूल जाना। किन्तु पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने पर उसे अनुभूति होती है कि वह ईश्वर का नित्य दास है।

इस सन्दर्भ में श्रील गोस्वामी की टीका है कि भक्ति के दो विभाग किये जा सकते हैं (१) *सन्तता*—वह भक्ति जो श्रद्धा तथा प्रेम से निरन्तर चालू रहती है तथा (२) *कादाचित्की*—वह भक्ति जो निरन्तर चालू नहीं रहती, अपितु कभी-कभी जाग्रत होती है। सन्तता भक्ति को भी दो विभागों में बाँटा जा सकता है (१) *किञ्चित् आसक्ति सहित सम्पन्न सेवा* (२) *रागानुगा भक्ति*।

कादाचित्की भक्ति के तीन विभाग किये जा सकते हैं—(१) रागाभासमयी—वह भक्ति जिसमें मनुष्य अनुरक्तप्राय होता है (२) रागाभासशून्य स्वरूपभूता—भक्ति जिसमें रागानुग प्रेम नहीं होता, किन्तु मनुष्य सेवा करने की स्वाभाविक स्थिति को चाहता है तथा (३) आभास रूपा—भक्ति की किञ्चित् झलक। जहाँ तक प्रायश्चित्त की बात है, यदि किसी को भक्ति की किञ्चित् झलक प्राप्त हो जाती है, तो प्रायश्चित्त करने की सभी आवश्यकताएँ नहीं रह जातीं। अतएव जब मनुष्य को रागानुग प्रेम प्राप्त हो चुका हो और उसके साथ प्रेम से लगाव हो, जो कि कादाचित्की की प्रगति के लक्षण है, तो प्रायश्चित्त निश्चित रूप से अनावश्यक होता है। यहाँ तक कि आभासरूपा भक्ति अवस्था में पापमय जीवन के सारे पाप फलों का उन्मूलन एवं विनाश हो जाता है। श्रील जीव गोस्वामी का मत है कि कात्स्न्य शब्द का अर्थ है कि पापकर्म करने की इच्छा होने पर भी उस इच्छा का उन्मूलन केवल आभासरूपा भक्ति से हो जाता है। भास्कर अर्थात् सूर्य का दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है। भक्ति के आभास रूप की उपमा उषाकाल से दी गई है और पापकर्मों के संचय की उपमा कुहरे से दी गई है। चूँकि कुहरा पूरे आकाश में नहीं छाया रहता, अतः सूर्य को अपनी प्रथम किरणें फैलाने के अतिरिक्त कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रहती। इससे कुहरा तुरन्त दूर हो जाता है। इसी तरह यदि किसी का भक्ति से थोड़ा-सा भी सम्बन्ध होता है, तो उसके पापमय जीवन का समस्त कुहरा तुरन्त नष्ट हो जाता है।

न तथा ह्यघवान्राजन्पूयेत तपआदिभिः ।

यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पुरुषनिषेवया ॥ १६ ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उसी तरह; हि—निश्चय ही; अघ-वान्—पापकर्मों से पूर्ण मनुष्य; राजन्—हे राजा; पूयेत—पवित्र हो सकता है; तपः-आदिभिः—तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा अन्य संस्कारों को सम्पन्न करने से; यथा—जिस तरह; कृष्ण-अर्पित-प्राणः—भक्त जिसका जीवन कृष्णभावनाभावित हो; तत्-पुरुष-निषेवया—कृष्ण के प्रतिनिधि की सेवा में अपना जीवन लगाने से।

हे राजन्! यदि पापी व्यक्ति भगवान् के प्रामाणिक भक्त की सेवा में लग जाता है और इस तरह यह सीख लेता है कि अपना जीवन किस तरह कृष्ण के चरणकमलों में समर्पित



करना चाहिए तो वह पूर्णतया शुद्ध हो सकता है। तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा मेरे द्वारा पहले वर्णित प्रायश्चित्त के अन्य साधनों को सम्पन्न करने मात्र से वह पापी शुद्ध नहीं बन सकता।

**तात्पर्य :** *तत्पुरुष* द्योतक है कृष्णभावनामृत के प्रचारक का, यथा गुरु का। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने कहा है, *छाड़िया वैष्णव सेवा निस्तार पायेछे केबा*—प्रामाणिक गुरु अर्थात् आदर्श वैष्णव की सेवा किये बिना ऐसा कौन है, जिसका माया के पाश से उद्धार हो सके? यही भाव अन्य अनेक स्थानों पर भी व्यक्त हुआ है। *श्रीमद्भागवत* (५.५.२) में कहा गया है—*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*—यदि कोई व्यक्ति माया के पाश से मुक्ति चाहता है, तो उसे शुद्ध भक्त महात्मा की संगति करनी चाहिए। *महात्मा* वह है, जो चौबीसों घंटे भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा रहता है। जैसा कि *भगवद्गीता* (९.१३) में कृष्ण कहते हैं—

*महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिं आश्रिताः ।*

*भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥*

“हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतः भक्ति में निमग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानते हैं।” इस तरह महात्मा का लक्षण यह है कि कृष्ण की सेवा के अतिरिक्त उसके पास कोई अन्य व्यस्तता नहीं रहती। पाप फलों से मुक्त होने, आदि कृष्णभावनामृत को जाग्रत करने तथा कृष्ण-प्रेम करने में प्रशिक्षित होने के लिए मनुष्य को वैष्णव की सेवा करनी चाहिए। यह *महात्मा-सेवा* का फल है। निस्सन्देह, यदि कोई शुद्ध भक्त की सेवा में लग जाता है, तो उसके पापमय जीवन के सारे फल स्वतः नष्ट हो जाते हैं। भक्ति की आवश्यकता पापों के तुच्छ ढेर को नष्ट करने हेतु ही नहीं, अपितु कृष्ण के प्रति हमारे सुप्त प्रेम को जाग्रत करने के लिए भी पड़ती है। जिस तरह सूर्यप्रकाश की पहली झलक पाते ही कुहरा दूर हो जाता है उसी तरह शुद्ध भक्त की सेवा प्रारम्भ करते ही उसके पापफल स्वतः नष्ट हो जाते हैं। किसी पृथक् प्रयास की आवश्यकता नहीं होती।

*कृष्णार्पित-प्राणः* शब्द उस भक्त का द्योतक है, जो अपना जीवन कृष्ण की सेवा करने में

अर्पित कर देता है, न कि अपने नारकीय जीवन के मार्ग से बचाये जाने के लिए। एक भक्त नारायण-परायण या वासुदेव-परायण होता है, जिसका अर्थ है, कि वासुदेव-मार्ग या भक्तिमार्ग ही भक्त का जीवन एवं प्राण है। नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ( भागवत ६.१७.२८) —ऐसा भक्त कहीं भी जाने से भयभीत नहीं होता। एक मोक्ष की ओर जाने उच्च लोकों का मार्ग है और दूसरा नरक लोकों में जाने का है, किन्तु नारायण-परायण भक्त को जहाँ भी भेजा जाये वह निडर रहता है। वह जहाँ भी रहे एकमात्र कृष्ण का स्मरण करना चाहता है। ऐसे भक्त को नरक तथा स्वर्ग की चिन्ता नहीं सताती। वह तो केवल कृष्ण की सेवा करने में लीन रहता है। जब भक्त को नारकीय दशा में डाल दिया जाता है, तो वह उसे कृष्ण की कृपा मानता है—तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः ( भागवत १०.१४.८)। वह विरोध नहीं करता कि, “ओह! मैं कृष्ण का इतना बड़ा भक्त हूँ। मुझे इस कष्ट में क्यों रखा गया?” उल्टे वह सोचता है कि, “यह कृष्ण की कृपा है।” ऐसा मनोभाव उसी भक्त के लिए सम्भव है, जो कृष्ण के प्रतिनिधि की सेवा में अपने को लगाता है। सफलता का यही रहस्य है।

सधीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः ।

सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः ॥ १७ ॥

### शब्दार्थ

सधीचीनः—उपयुक्त; हि—निश्चय ही; अयम्—यह; लोके—संसार में; पन्थाः—मार्ग; क्षेमः—मंगलमय, शुभ; अकुतः—भय;—निर्भय; सु-शीलाः—अच्छे आचरण वाले; साधवः—साधु पुरुष; यत्र—जहाँ; नारायण-परायणाः—जिन्होंने नारायण के मार्ग अर्थात् भक्ति को अपना सर्वस्व मान लिया है।

सुशील तथा सर्वोत्तम गुणों से युक्त शुद्ध भक्तों के द्वारा पालन किया जाने वाला मार्ग निश्चय ही इस भौतिक जगत का सबसे मंगलमय मार्ग है। यह भय से रहित है और शास्त्रों द्वारा प्रमाणित है।

तात्पर्य : किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि भक्ति अंगीकार करने वाला व्यक्ति वेदों के कर्मकाण्ड अनुभाग में संस्तुत अनुष्ठानों को सम्पन्न नहीं कर सकता या कि वह आध्यात्मिक विषयों

पर चिन्तन करने के लिए पर्याप्त शिक्षित नहीं है। मायावादी सामान्यतया यह आरोप लगाते हैं कि *भक्तिमार्ग* स्त्रियों तथा अशिक्षितों के लिए है। यह निराधार आरोप है। *भक्तिमार्ग* का अनुसरण अत्यन्त विद्वान पंडितों, यथा श्री चैतन्य महाप्रभु तथा रामानुजाचार्य जैसे गोस्वामियों, द्वारा किया गया है। *भक्तिमार्ग* के ये ही वास्तविक अनुगामी हैं। कोई चाहे शिक्षित या उच्चकुलीन हो या न हो, उसे इनके ही पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए। *महाजनो येन गतः स पन्थाः*—मनुष्य को महाजनों के मार्ग का पालन करना चाहिए। *महाजन* वे हैं जिन्होंने भक्ति के मार्ग को ग्रहण किया है (*सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः*) क्योंकि ऐसे महापुरुष ही पूर्ण पुरुष होते हैं। *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में कहा गया है—

*यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना*

*सर्वेर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।*

“जिसमें भगवान् के प्रति अविचल भक्ति होती है, उसमें देवताओं के समस्त सद्गुण पाये जाते हैं।” किन्तु जो अल्पज्ञ हैं वे भक्तिमार्ग का गलत अर्थ लगाते हैं, इसलिए वे यह आरोप लगाते हैं कि भक्ति उन लोगों के लिए है, जो अनुष्ठान नहीं सम्पन्न कर सकते या चिन्तन नहीं कर सकते। जैसाकि यहाँ पर *सध्रीचीनः* शब्द से पुष्टि हुई है भक्ति ही वह मार्ग है, जो उपयुक्त है, कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के मार्ग नहीं। मायावादी भले ही *सुशीलाः साधवः* (अच्छे आचरण वाले साधु पुरुष) हों, किन्तु इसमें सन्देह ही है कि वास्तव में वे प्रगति कर रहे हैं, क्योंकि उन्होंने भक्तिमार्ग स्वीकार नहीं किया है। दूसरी ओर, जो लोग आचार्यों के मार्ग का अनुसरण करते हैं वे *सुशीलाः* तथा *साधवः* हैं। किन्तु इतना ही नहीं, उनका मार्ग *अकुतोभयः* है अर्थात् वह भय से रहित हैं। मनुष्य को चाहिए कि निर्भय होकर बारह महाजनों तथा उनकी परम्परा का अनुगमन करे और माया के पाश से मुक्त हो ले।

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।

न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥ १८ ॥

### शब्दार्थ

प्रायश्चित्तानि—प्रायश्चित्त की विधियाँ; चीर्णानि—अच्छे ढंग से सम्पन्न; नारायण-पराङ्मुखम्—अभक्त; न निष्पुनन्ति—पवित्र नहीं कर सकतीं; राजेन्द्र—हे राजन्; सुरा-कुम्भम्—शराब से भरा पात्र; इव—सदृश; आप-गाः—नदियों का जल।

हे राजन्! जिस तरह सुरा से सने हुए पात्र को अनेक नदियों के जल से धोने पर भी शुद्ध नहीं किया जा सकता, उसी तरह अभक्तों को प्रायश्चित्त की विधियों से शुद्ध नहीं बनाया जा सकता, भले ही वे उन्हें बहुत अच्छी तरह से सम्पन्न क्यों न करें।

तात्पर्य : प्रायश्चित्त की विधियों से लाभ उठाने के लिए मनुष्य को थोड़ा-बहुत निष्ठावान तो होना ही चाहिए, अन्यथा उसके शुद्ध होने की सम्भावना नहीं रहती। इस श्लोक में स्पष्ट है कि वे लोग जो कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड का लाभ उठाते हैं, किन्तु किञ्चित् भी भक्ति नहीं करते इन अन्य मार्गों का अनुसरण करने-मात्र से शुद्ध नहीं किये जा सकते। प्रायश्चित्तानि शब्द कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड दोनों को ही सूचित करने के लिए बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड। इस तरह वे कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के मार्गों की उपमा विष के पात्रों से देते हैं। सुरा तथा विष एक ही कोटि में आते हैं। श्रीमद्भागवत के इस श्लोक के अनुसार, जिस व्यक्ति ने भक्तिमार्ग के बारे में काफी सुन रखा है, किन्तु जो उसमें अनुरक्त नहीं है, जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह सुरा के पात्र के तुल्य है। ऐसा व्यक्ति भक्ति के रंच मात्र स्पर्श के बिना शुद्ध नहीं किया जा सकता।

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्

निवेशितं तद्गुणरागि चैरिह ।

न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्

स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥ १९ ॥

### शब्दार्थ

सकृत्—केवल एक बार; मनः—मन; कृष्ण-पद-अरविन्दयोः—कृष्ण के दो चरणकमलों के प्रति; निवेशितम्—पूर्ण शरणागत; तत्—कृष्ण का; गुण-रागि—जो गुण, नाम, यश तथा साज-सामग्री के प्रति कुछ-कुछ अनुरक्त रहता है; चैः—जिनके द्वारा; इह—इस जगत में; न—नहीं; ते—ऐसे पुरुष; यमम्—मृत्यु के अधिष्ठाता यमराज को; पाश-भृतः—

( पापी पुरुषों को पकड़ने के लिए ) रस्सी ( पाश ) रखने वाले; च—तथा; तत्—उसके; भटान्—आदेश वाहकों या दूतों को; स्वप्ने अपि—स्वप्न में भी; पश्यन्ति—देखते हैं; हि—निस्सन्देह; चीर्ण-निष्कृताः—सही प्रायश्चित्त करने वाले ।

यद्यपि जिन पुरुषों ने कृष्ण का पूर्ण साक्षात्कार नहीं किया है, तो भी यदि एक बार भी उनके चरणकमलों की पूर्णरूपेण शरण ग्रहण कर ली है और जो उनके नाम, रूप, गुणों तथा लीलाओं से आकृष्ट हो चुके हैं, वे सारे पापकर्मों से पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि इस तरह उन्होंने प्रायश्चित्त की सही विधि को स्वीकार किया है। ऐसे शरणागत व्यक्तियों को यमराज या उनके दूत, जो कि पापी को बाँधने के लिए रस्सियाँ लिए रहते हैं, स्वप्न में भी दिखाई नहीं पड़ते।

तात्पर्य : भगवद्गीता ( १८.६६ ) में कृष्ण कहते हैं—

*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।*

*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥*

“समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। डरो मत।” यहाँ पर इसी सिद्धान्त का वर्णन हुआ है ( *सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोः* )। यदि भगवद्गीता का अध्ययन करके कोई कृष्ण की शरण ग्रहण करने का निश्चय करता है, तो वह तुरन्त ही सारे पाप-फलों से मुक्त हो जाता है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि शुकदेव गोस्वामी वासुदेव परायण तथा नारायणपरायण शब्दों का कई बार प्रयोग करने के बाद अन्त में *कृष्णपदारविन्दयोः* कहते हैं। इस तरह वे इंगित करते हैं कि नारायण तथा वासुदेव दोनों ही के उद्गम कृष्ण हैं। यद्यपि नारायण तथा वासुदेव कृष्ण से भिन्न नहीं हैं, किन्तु एकमात्र कृष्ण की शरण में जाने से मनुष्य उनके सारे अंशों—यथा नारायण, वासुदेव तथा गोविन्द—को पूर्णतया समर्पित हो जाता है। जैसा कि भगवद्गीता ( ७.७ ) में कृष्ण कहते हैं—*मत्तः परतरम् नान्यत्—* मुझसे बढ़कर कोई सत्य नहीं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अनेक नाम तथा रूप हैं, किन्तु कृष्ण परम रूप हैं ( *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्* )। इसलिए कृष्ण नए भक्तों के लिए संस्तुति करते हैं कि वे एकमात्र उन्हीं की शरण में आयें ( *माम् एकम्* )। चूँकि नए भक्त यह नहीं समझ सकते कि

नारायण, वासुदेव तथा गोविन्द रूप क्या हैं, इसलिए कृष्ण प्रत्यक्ष कहते हैं *मामेकम्*। यहाँ पर इसका समर्थन *कृष्णपदारविन्दयोः* शब्द से भी होता है। नारायण स्वयं नहीं बोलते, किन्तु कृष्ण या वासुदेव बोलते हैं— *भगवद्गीता* इसका उदाहरण है। अतएव *भगवद्गीता* के निर्देश का पालन करने का अर्थ है कृष्ण की शरण ग्रहण करना। और इस तरह से शरण ग्रहण करना ही भक्तियोग की सर्वोच्च सिद्धि है।

परीक्षित महाराज ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा था कि मनुष्य को नारकीय जीवन की विविध दशाओं में गिरने से किस तरह बचाया जा सकता है। इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी यह उत्तर देते हैं कि जिस आत्मा ने कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है, वह नरक नहीं जा सकता। वहाँ जाने की बात दूर, वह अपने स्वप्नों में भी न तो यमराज को, न ही उनके दूतों को, जो मनुष्य को ले जाने में समर्थ हैं, देखता है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई नरक में गिरने से अपने को बचाना चाहता है, तो उसे पूरी तरह से कृष्ण की शरण में जाना चाहिए। *सकृत* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह सूचित करता है कि यदि कोई निष्ठापूर्वक एक बार भी कृष्ण की शरण ग्रहण करता है, तो वह बचा लिया जाता है, भले ही पापकर्म करने के कारण संयोगवश वह नीचे गिर रहा हो। इसीलिए *भगवद्गीता* (९.३०) में कृष्ण कहते हैं—

*अपिचेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यमा ।*

*साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥*

“यदि कोई जघन्यतम कर्म भी करता है, किन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है, तो उसे साधु मानना चाहिए, क्योंकि वह समुचित विधि से अवस्थित हो गया है।” यदि मनुष्य क्षण-भर के लिए भी कृष्ण को नहीं भूलता तो वह सुरक्षित है, चाहे वह पापकर्म करने से संयोगवश नीचे क्यों न गिर गया हो।

*भगवद्गीता* के द्वितीय अध्याय (२.४०) में भगवान् यह भी कहते हैं—

*नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।*

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

“इस प्रयास में न तो हानि होती है, न ही हास, अपितु इस पथ पर की गई अल्प प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर सकती है।”

गीता में अन्यत्र (६.४०) भगवान् कहते हैं— न हि कल्याणकृत कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति— जो व्यक्ति शुभकार्य करता है, वह कभी बुराई से परास्त नहीं होता। सर्वोच्च कल्याण (शुभ कार्य) तो कृष्ण की शरण में जाना है। नारकीय जीवन में गिरने से अपने को बचाने का यही एकमात्र मार्ग है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने इसकी पुष्टि इस प्रकार से की है—

कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकापुष्पायते

दुर्दान्तेन्द्रियकालसर्पपटली प्रोत्खात दंष्ट्रायते ।

विश्वं पूर्णसुखायते विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते

यत्कारुण्यकटाक्षवैभववतां तं गौरमेव स्तुमः ॥

जिस व्यक्ति ने कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है उसके पापकर्मों की उपमा उस सर्प से दी गई है, जिसके विषदन्त निकाल दिये गये हैं (प्रोत्खात दंष्ट्रायते)। ऐसे सर्प से आगे कोई डर नहीं रहता। वस्तुतः, मनुष्य को कृष्ण की शरण ग्रहण करने के बलबूते पर पापकर्म नहीं करने चाहिए। किन्तु यदि कृष्ण के शरणागत हुआ कोई व्यक्ति अपनी पुरानी आदतों के कारण कोई पापकर्म कर बैठता है, तो ऐसे पापकर्मों का कोई विनाशकारी प्रभाव नहीं होता। इसलिए मनुष्य को कृष्ण के चरणकमलों में दृढ़ता से लग जाना चाहिए और गुरुजनों के निर्देशन में उनकी सेवा करनी चाहिए। इस तरह वह सभी परिस्थितियों में अकुतोभय अर्थात् भय से रहित होगा।

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

दूतानां विष्णुयमयोः संवादस्तं निबोध मे ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस सम्बन्ध में; च—भी; उदाहरन्ति—उदाहरण देते हैं; इमम्—यह; इतिहासम्—( अजामिल का ) इतिहास; पुरातनम्—अत्यन्त प्राचीन; दूतानाम्—दूतों का; विष्णु—भगवान् विष्णु के; यमयोः—तथा यमराज के; संवादः—बातचीत; तम्—उसको; निबोध—समझने का प्रयास करो; मे—मुझसे।

इस सम्बन्ध में विद्वान् जन तथा सन्त पुरुष एक अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक घटना का वर्णन करते हैं जिसमें भगवान् विष्णु तथा यमराज के दूतों के बीच संवाद हुआ था। कृपा करके इसे मुझसे सुनिये।

तात्पर्य : कभी-कभी उन मूर्खों द्वारा पुराणों या पुरातन इतिहास की उपेक्षा की जाती है, जो उनके विवरणों को काल्पनिक मानते हैं। वस्तुतः पुराण अथवा ब्रह्माण्ड के प्राचीन इतिहास कालक्रमानुसार न होते हुए भी तथ्यात्मक हैं। पुराण उन मुख्य घटनाओं को अंकित करते हैं, जो लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व न केवल इस लोक में, अपितु ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों में घटित हुई हैं। इसलिए सारे विद्वान् तथा अनुभवी वैदिक पंडित पुराणों की घटनाओं का सन्दर्भ देकर बात कहते हैं। श्रील रूप गोस्वामी पुराणों को वेदों के ही समान महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसलिए भक्तिरसामृत-सिन्धु में वे ब्रह्म यामल का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं—

*श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना।*

*ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते ॥*

“ऐसी भगवद्भक्ति जो उपनिषदों, पुराणों तथा नारद पञ्चरात्र जैसे प्रामाणिक वैदिक ग्रन्थों की अवज्ञा करती है, समाज में अनावश्यक उत्पात है।” कृष्णभक्त को न केवल वेदों का, अपितु पुराणों का भी सन्दर्भ देना चाहिए। पुराणों को मूर्खतावश काल्पनिक नहीं मानना चाहिए। यदि वे काल्पनिक होते तो शुकदेव गोस्वामी अजामिल के जीवन से सम्बद्ध प्राचीन ऐतिहासिक घटना को सुनाने का कष्ट न उठाते। अब यह इतिहास निम्नवत् प्रारम्भ होता है।

कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः ।

नाम्ना नष्टसदाचारो दास्याः संसर्गदूषितः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ



कान्य-कुब्जे—कान्यकुब्ज नगर में ( कानपुर के निकट का नगर कन्नौज ); द्विजः—ब्राह्मण; कश्चित्—कोई; दासी-पतिः—निम्न श्रेणी की स्त्री या वेश्या का पति; अजामिलः—अजामिल; नाम्ना—नामक; नष्ट-सत्-आचारः—जो अपने सारे ब्राह्मण-गुणों को खो चुका था; दास्याः—दासी या वेश्या की; संसर्ग-दूषितः—संगति से दूषित।

कान्यकुब्ज नामक नगर में अजामिल नाम का एक ब्राह्मण था, जिसने एक वेश्या दासी से विवाह करके उस निम्न श्रेणी की स्त्री की संगति के कारण अपने सारे ब्राह्मण-गुण खो दिये।

तात्पर्य : स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध होने का दोष यह है कि इससे सारे ब्राह्मण-गुण जाते रहते हैं। भारत में अब भी दासों की एक श्रेणी है, जो शूद्र कहलाती है, जिनकी दासी पत्नियाँ शूद्राणियाँ कहलाती हैं। कभी-कभी ऐसे लोग, जो अत्यधिक कामुक होते हैं, ऐसी दासियों तथा झाड़ू देने वाली स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, क्योंकि समाज के उच्चतर तबकों में वे स्त्री-आखेट की आदत में लिप्त नहीं हो सकते, क्योंकि सामाजिक परम्परा के अनुसार इसका कड़ाई से निषेध है। अजामिल नामके एक सुयोग्य ब्राह्मण-युवा ने एक वेश्या की संगति के कारण अपने सारे ब्राह्मण-गुण गँवा दिये, किन्तु अन्ततोगत्वा उसे बचा लिया गया, क्योंकि उसने भक्तियोग की विधि शुरू कर दी थी। इसीलिए पिछले श्लोक में शुकदेव गोस्वामी ने ऐसे व्यक्ति के विषय में कहा है, जिसने केवल एक बार भगवान् के चरणकमलों में आत्मसमर्पण किया हो ( *मनः कृष्णपदारविन्दयोः* ) या जिसने भक्तियोग विधि अभी-अभी शुरू की हो। भक्तियोग की शुरुआत *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* से अर्थात् भगवान् विष्णु के नाम के श्रवण तथा कीर्तन से होती है जैसाकि महामंत्र—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—में है। कीर्तन भक्तियोग की शुरुआत है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु घोषित करते हैं—

*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।*

*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥*

“कलह तथा पाखण्ड के इस युग में उद्धार का एकमात्र उपाय भगवन्नाम का कीर्तन है। इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। अन्य कोई उपाय नहीं है। अन्य कोई उपाय नहीं है।” भगवन्नाम

के कीर्तन की विधि सदैव अतीव प्रभावशाली है, किन्तु इस कलियुग में यह विशेष रूप से प्रभावशाली है। इसकी व्यावहारिक प्रभावशीलता की व्याख्या अब शुकदेव गोस्वामी द्वारा अजामिल के इतिहास के माध्यम से की जायेगी, जिसे यमदूतों के हाथों से इसीलिए छुड़ाया गया कि उसने नारायण के नाम का उच्चारण किया था। परीक्षित महाराज का मूल प्रश्न था कि नरक में गिरने से या यमदूतों के हाथों में गिरने से कैसे बचा जा सकता है। इसके उत्तर में शुकदेव गोस्वामी भक्तियोग की शक्ति के विषय में परीक्षित महाराज को आश्चस्त करने के लिए यह प्राचीन ऐतिहासिक उदाहरण दे रहे हैं, जिसकी शुरुआत केवल भगवन्नाम के उच्चारण करने से होती है। भक्तियोग के सारे बड़े बड़े अधिकारी कृष्णनाम के कीर्तन से प्रारम्भ होने वाली भक्ति विधि की संस्तुति करते हैं ( *तन्नामग्रहणादिभिः* ) ।

**बन्धक्षैः कैतवैश्चौर्यैर्गर्हितां वृत्तिमास्थितः ।**

**बिभ्रत्कुटुम्बमशुचिर्यातयामास देहिनः ॥ २२ ॥**

#### शब्दार्थ

बन्दी-अक्षैः—व्यर्थ ही बन्दी बनाकर; कैतवैः—जुआ खेलने या पासा फेंकने में धोखा देकर; चौर्यैः—चोरी करके; गर्हिताम्—निन्दनीय; वृत्तिम्—पेशों में; आस्थितः—जिसने अपना रखा है (वेश्या की संगति के कारण); बिभ्रत्—पालन करते हुए; कुटुम्बम्—आश्रित पत्नी तथा बच्चों को; अशुचिः—अत्यन्त पापी होने से; यातयाम् आस—कष्ट पहुँचाता था; देहिनः—अन्य जीवों को।

यह पतित ब्राह्मण अजामिल अन्यो को बन्दी बनाकर उन्हें जुए में धोखा देकर या सीधे उन्हें लूट कर कष्ट पहुँचाता था। इस तरह से वह अपनी जीविका चलाता था और अपनी पत्नी तथा बच्चों का भरण-पोषण करता था।

**तात्पर्य :** यह श्लोक संकेत करता है कि वेश्या के साथ अवैध यौन में लिप्त रहने से ही मनुष्य कितना पतित हो जाता है। सती या उच्चकुलीन स्त्री के साथ अवैध यौन सम्भव नहीं, ऐसा केवल कुलटा शुद्र स्त्रियों के साथ सम्भव है। समाज वेश्यावृत्ति तथा अवैध यौन की जितनी अधिक अनुमति देता है, उतना ही अधिक प्रोत्साहन ठगों, चोरों, लुटेरों, शराबियों तथा जुआ खेलने वालों

को मिलता है। इसलिए हम अपने कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सारे शिष्यों को सर्वप्रथम अवैध यौन से बचने की सलाह देते हैं, क्योंकि यह घृणित जीवन की शुरुआत है, जिसके बाद मांसाहार, जुआ खेलना तथा नशा करना क्रमशः एक के बाद एक आते हैं। वस्तुतः, इन पर रोक बहुत कठिन है, किन्तु यदि पूर्णतया कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली जाये तो यह सम्भव है, क्योंकि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लिए ये गर्हित आदतें धीरे-धीरे अरुचिकर बन जाती हैं। किन्तु यदि समाज में अवैध यौन के बढ़ाने की छूट दे दी जाये तो सारा समाज घृणास्पद बन जायेगा, क्योंकि तब यह धूर्तों, चोरों, ठगों इत्यादि से भर जायेगा।

एवं निवसतस्तस्य लालयानस्य तत्सुतान् ।

कालोऽत्यगान्महान्राजन्नष्टाशीत्यायुषः समाः ॥ २३ ॥

#### शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; निवसतः—रहते हुए; तस्य—उस ( अजामिल ) के; लालयानस्य—पालन-पोषण का; तत्—उस ( शूद्राणी ) के; सुतान्—पुत्रों को; कालः—समय; अत्यगात्—बीत गया; महान्—पर्याप्त; राजन्—हे राजा; अष्टाशीत्या—अट्ठासी; आयुषः—आयु के; समाः—वर्ष।

हे राजन्! इस तरह अनेक पुत्रों वाले अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए घृणास्पद

पापपूर्ण कार्यों में अपना जीवन बिताते हुए उसके जीवन के अट्ठासी वर्ष बीत गये।

तस्य प्रवयसः पुत्रा दश तेषां तु योऽवमः ।

बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम् ॥ २४ ॥

#### शब्दार्थ

तस्य—उस ( अजामिल ) का; प्रवयसः—अत्यन्त वृद्ध; पुत्राः—पुत्र; दश—दस; तेषाम्—उनमें से; तु—लेकिन; यः—एक जो; अवमः—सबसे छोटा; बालः—बालक; नारायणः—नारायण; नाम्ना—नाम वाला; पित्रोः—माता-पिता का; च—तथा; दयितः—प्रिय; भृशम्—अत्यधिक।

उस वृद्ध अजामिल के दस पुत्र थे, जिनमें से सबसे छोटे का नाम नारायण था। चूँकि

नारायण सबसे छोटा पुत्र था, अतः स्वाभाविक है कि वह अपने पिता तथा माता दोनों का

ही अत्यन्त लाड़ला था।

तात्पर्य : प्रवयसः शब्द अजामिल के पापाचार का सूचक है, क्योंकि अट्ठासी वर्ष का होते

हुए भी उसके एक नन्हा सा पुत्र था। वैदिक संस्कृति के अनुसार ज्योंही मनुष्य पचास वर्ष की आयु प्राप्त कर ले उसे घर का त्याग कर देना चाहिए। उसे घर पर रहकर बच्चे पैदा नहीं करते रहना चाहिए। यौन जीवन की छूट पच्चीस-वर्षों तक अर्थात् पच्चीस से पैंतालीस या अधिक से अधिक पचास वर्ष की आयु के बीच, के लिए, है। इसके बाद यौन जीवन की आदत त्याग देनी चाहिए और तब *वानप्रस्थ* के रूप में घर छोड़कर उचित रीति से संन्यास ग्रहण करना चाहिए। किन्तु वेश्या की संगति के कारण अजामिल ने अपनी सारी ब्राह्मण-संस्कृति खो दी थी और वह अपने तथाकथित गृहस्थ जीवन में भी अत्यन्त पापी बन चुका था।

स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि ।

निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जरठो भृशम् ॥ २५ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह; बद्ध-हृदयः—अत्यधिक लिप्त; तस्मिन्—उस; अर्भके—छोटे बच्चे के प्रति; कल-भाषिणि—तोतली भाषा में बोलने वाला; निरीक्षमाणः—देखते हुए; तत्—उसकी; लीलाम्—क्रीड़ाएँ ( यथा चलना तथा पिता से बातें करना ); मुमुदे—आनन्द लेता; जरठः—वृद्ध व्यक्ति; भृशम्—अत्यधिक ।

बालक की तोतली भाषा तथा लड़खड़ाती चाल से वृद्ध अजामिल उसके प्रति अत्यधिक अनुरक्त था। वह उस बालक की देखरेख करता तथा उसकी क्रीड़ाओं का आनन्द लेता।

तात्पर्य : यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि बालक नारायण इतना छोटा था कि वह न तो ठीक से बोल पाता था, न चल पाता था। चूँकि वह वृद्ध व्यक्ति उस बच्चे से अत्यधिक लिप्त था, अतः वह बच्चे की क्रीड़ाओं से आनन्दित होता था और चूँकि बालक का नाम नारायण था, अतः वह वृद्ध व्यक्ति सदैव नारायण के नाम का उच्चारण करता रहता था। यद्यपि वह आदि नारायण को नहीं, बल्कि उस छोटे बालक को पुकारता था, किन्तु नारायण नाम इतना शक्तिशाली है कि अपने बालक का नाम पुकारने पर भी वह शुद्ध बनता जा रहा था ( *हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्* )। इसीलिए श्रील रूप गोस्वामी ने घोषणा की है कि यदि मन किसी तरह से भी कृष्ण के नाम के

प्रति आकृष्ट हो जाये ( *तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्*), तो वह मुक्ति के मार्ग पर होता है। हिन्दू समाज में यह प्रथा है कि माता पिता अपने बच्चों के नाम कृष्णदास, गोविन्द दास, नारायण दास तथा वृन्दावन दास आदि रखते हैं। इस तरह वे कृष्ण, गोविन्द, नारायण तथा वृन्दावन के नामों का उच्चारण करते हैं और शुद्ध होने का अवसर प्राप्त करते हैं।

भुञ्जानः प्रपिबन्खादन्बालकं स्नेहयन्त्रितः ।

भोजयन्पाययन्मूढो न वेदागतमन्तकम् ॥ २६ ॥

#### शब्दार्थ

भुञ्जानः—खाते समय; प्रपिबन्—पीते हुए; खादन्—चबाते हुए; बालकम्—बालक को; स्नेह-यन्त्रितः—स्नेह द्वारा बँधा हुआ; भोजयन्—खिलाते हुए; पाययन्—पीने के लिए कुछ देते हुए; मूढः—मूर्ख व्यक्ति; न—नहीं; वेद—जान पाया; आगतम्—आ गयी है; अन्तकम्—मृत्यु।

जब अजामिल भोजन करता तो वह बालक को खाने के लिए पुकारता और जब वह कुछ पीता तो उसे भी पीने के लिए बुलाता। उस बालक की देखरेख करने तथा उसका नाम पुकारने में सदा लगा रहकर अजामिल यह न समझ पाया कि उसका समय अब समाप्त हो चुका है और मृत्यु उसके सिर पर है।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् बद्धजीव पर दयालु रहते हैं। यद्यपि यह व्यक्ति नारायण को पूरी तरह भूल चुका था, किन्तु अपने बच्चे को यह कहकर पुकारता रहता, “नारायण! आकर भोजन कर लो। नारायण! आकर यह दूध पी लो।” इसलिए वह किसी न किसी रूप में नारायण के नाम से जुड़ा रहा था। यह *अज्ञात-सुकृति* कहलाता है। यद्यपि वह पुकारता अपने पुत्र को था, किन्तु अनजाने में वह नारायण का नाम लेता था और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का पवित्र नाम अलौकिक स्तर पर इतना शक्तिशाली है कि उसका वह पुकारना कीर्तन करना माना जा रहा था।

स एवं वर्तमानोऽज्ञो मृत्युकाल उपस्थिते ।

मतिं चकार तनये बाले नारायणाह्वये ॥ २७ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह अजामिल; एवम्—इस प्रकार; वर्तमानः—जीवित; अज्ञः—मूर्ख; मृत्यु-काले—जब मृत्यु का समय; उपस्थिते—आ गया; मतिम् चकार—अपना मन एकाग्र किया; तनये—अपने पुत्र पर; बाले—बालक; नारायण-आह्वये—जिसका नाम नारायण था।

जब मूर्ख अजामिल की मृत्यु का समय आ गया तो वह एकमात्र अपने पुत्र नारायण के विषय में सोचने लगा।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध (२.१.६) में शुकदेव गोस्वामी कहते हैं—

*एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।*

*जन्मलाभः परः पुंसाम् अन्ते नारायणस्मृतिः ॥*

“पदार्थ तथा आत्मा के पूर्ण ज्ञान, योग शक्ति की उपलब्धि या अपने वृत्तिपरक कर्तव्य की सम्पन्नता द्वारा प्राप्त, मानव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि जीवन के अन्त समय भगवान् के नाम का स्मरण करना है।” जैसे भी हो, अजामिल ने जाने-अनजाने मृत्यु के समय नारायण नाम का उच्चारण किया (अन्ते नारायण स्मृतिः), अतः नारायण के नाम पर अपने मन को एकाग्र करने मात्र से वह परम पूर्ण बन गया।

इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अजामिल, जोकि ब्राह्मण पुत्र था, अपनी युवावस्था में नारायण की पूजा करने का अभ्यस्त था, क्योंकि प्रत्येक ब्राह्मण के घर में नारायण-शिला की पूजा होती है। आज भी यह प्रथा भारत में विद्यमान है। कट्टर ब्राह्मण के घर में नारायण-सेवा की जाती है। यद्यपि दूषित अजामिल अपने पुत्र को पुकारता था, किन्तु नारायण के पवित्र नाम पर अपने मन को एकाग्र करने से वह उन नारायण का स्मरण करता जिनकी पूजा उसने युवावस्था में बड़ी ही श्रद्धापूर्वक की थी।

इस सन्दर्भ में श्रील श्रीधर स्वामी ने अपने निर्णय को इस प्रकार व्यक्त किया है—*एतच्च तदुपलालनादिश्रीनारायणनामोच्चारणमाहात्म्येन तद्भक्तिरेवाभूदिति सिद्धान्तोपयोगित्वेनापि द्रष्टव्यम्*—“भक्ति सिद्धान्त के अनुसार यह विश्लेषण किया जा सकता है कि चूँकि अजामिल अपने पुत्र नारायण के नाम का निरन्तर उच्चारण करता था, इसलिए वह भक्ति न जानते हुए भी

भक्ति पद को प्राप्त हुआ।” इसी तरह श्रील वीरराघव आचार्य यह मत व्यक्त करते हैं—एवं वर्तमानः स द्विजः मृत्युकाले उपस्थिते सत्यज्ञो नारायणाख्ये पुत्र एव मतिं चकार मतिम् आसक्ताम् अकरोदित्यर्थः—“यद्यपि मृत्यु के समय वह अपने पुत्र के नाम का उच्चारण कर रहा था फिर भी वह अपने मन को नारायण के पवित्र नाम पर एकाग्र किये हुए था।” श्री विजयध्वज तीर्थ ने ऐसा ही मत व्यक्त किया है—मृत्युकाले देहवियोगलक्षणकाले मृत्योः सर्वदोषपापहरस्य हरेरनुग्रहात् काले दत्तज्ञानलक्षणे उपस्थिते हृदि प्रकाशिते तनये पूर्णज्ञाने बाले पञ्चवर्षकल्पे प्रादेशमात्रे नारायणाह्वये मूर्तिविशेषे मतिं स्मरणसमर्थं चित्तं चकार भक्त्यास्मरदित्यर्थः ।

वस्तुतः अजामिल ने मृत्यु के समय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से नारायण का स्मरण किया (अन्ते नारायणस्मृतिः)

स पाशहस्तांस्त्रीन्दृष्ट्वा पुरुषानतिदारुणान् ।  
वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान् ॥ २८ ॥  
दूरे क्रीडनकासक्तं पुत्रं नारायणाह्वयम् ।  
प्लावितेन स्वरेणोच्चैराजुहावाकुलेन्द्रियः ॥ २९ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह व्यक्ति (अजामिल); पाश-हस्तान्—उनके हाथों में रस्सियाँ लिए; त्रीन्—तीन; दृष्ट्वा—देखकर; पुरुषान्—पुरुषों को; अति-दारुणान्—अत्यन्त भयावह सूरत वाले; वक्र-तुण्डान्—टेढ़े मुखों वाले; ऊर्ध्व-रोम्णः—खड़े रोमों वाले; आत्मानम्—स्वयं को; नेतुम्—ले जाने के लिए; आगतान्—आये हुए; दूरे—थोड़ी दूरी पर; क्रीडनक-आसक्तम्—खेल में लगे; पुत्रम्—पुत्र को; नारायण-आह्वयम्—नारायण नाम के; प्लावितेन—अश्रुपूर्ण नेत्रों से; स्वरेण—वाणी से; उच्चैः—अत्यन्त ऊँची; आजुहाव—पुकारा; आकुल-इन्द्रियः—चिन्ता से पूरित होकर।

तब अजामिल ने तीन भयावह व्यक्तियों को देखा जिनके शरीर वक्र, भयानक और मुख टेढ़े थे तथा शरीर पर रोम खड़े हुए थे। वे अपने हाथों में रस्सियाँ लिए हुए उसे यमराज के धाम ले जाने के लिए आये थे। जब उसने उन्हें देखा तो वह अत्यधिक विमोहित था और कुछ दूर पर खेल रहे अपने बच्चे के प्रति आसक्ति के कारण अजामिल उसका नाम लेकर जोर- जोर से पुकारने लगा। इस तरह अपनी आँखों में आँसू भरे हुए किसी तरह से उसने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया।

**तात्पर्य :** जो व्यक्ति पापकर्म करता है, वह अपने शरीर, मन तथा वाणी से करता है। अतएव अजामिल को यमराज के धाम ले जाने के लिए यमराज के तीन दूत आये। सौभाग्यवश, यद्यपि अजामिल अपने पुत्र का नाम ले रहा था, किन्तु उसने *हरिनाम* नारायण के चार अक्षरों का उच्चारण किया, इसलिए नारायण के दूत, विष्णुदूत, भी तुरन्त वहाँ आ गये। चूँकि अजामिल यमराज की रस्सियों से अत्यधिक भयभीत था, अतएव उसने अश्रुपूरित नेत्रों से भगवान् के नाम का उच्चारण किया। किन्तु वास्तव में उसका मन्तव्य नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण करना न था। वह तो अपने पुत्र को पुकार रहा था।

निशाम्य प्रियमाणस्य मुखतो हरिकीर्तनम् ।  
भर्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसापतन् ॥ ३० ॥

#### शब्दार्थ

निशाम्य—सुनकर; प्रियमाणस्य—मरणासन्न व्यक्ति के; मुखतः—मुख से; हरि-कीर्तनम्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन; भर्तुः नाम—अपने स्वामी का पवित्र नाम; महा-राज—हे राजा; पार्षदाः—विष्णु के दूत; सहसा—तुरन्त; आपतन्—आ गये।

हे राजन्! जब विष्णुदूतों ने मरणासन्न अजामिल के मुख से अपने स्वामी के पवित्र नाम को सुना, जिसने निश्चित ही पूर्ण उद्विग्नता में निरपराध भाव से उच्चारण किया था, तो वे तुरन्त वहाँ आ गये।

**तात्पर्य :** श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि *हरिकीर्तनं निशाम्यापतन्, कथम् भूतस्य भर्तुर्नाम ब्रुवतः*—विष्णु के दूत इसलिए आये, क्योंकि अजामिल ने नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण किया था। उन्होंने इस पर विचार नहीं किया कि वह क्यों उच्चारण कर रहा है। नारायण नाम का उच्चारण करते समय अजामिल वास्तव में अपने पुत्र के विषय में सोच रहा था, किन्तु विष्णुदूतों ने अजामिल को भगवन्नाम का कीर्तन करते सुना तो वे तुरन्त अजामिल की रक्षा हेतु आ गये। *हरिकीर्तन वस्तुतः* भगवान् के नाम, रूप, लीला तथा गुणों के गान के लिए होता है। किन्तु अजामिल ने भगवान् के रूप, गुण या साज-सामग्री का गुणगान नहीं किया था, उसने तो



पवित्र नाम का उच्चारण-मात्र किया था। फिर भी वह उच्चारण उसके सारे पापकर्मों को धो डालने के लिए पर्याप्त था। जैसे ही विष्णुदूतों ने अपने स्वामी के नाम का कीर्तन होते सुना, वे झट से आ गये। इस संदर्भ में श्रील विजयध्वज तीर्थ की टिप्पणी है—*अनेन पुत्रस्नेहम् अन्तरेण प्राचीनादृष्टबलाद् उद्भूतया भक्त्या भगवन्नामसङ्कीर्तन कृतम् इति ज्ञायते*—“अजामिल ने नारायण के पवित्र नाम का कीर्तन किया, क्योंकि वह अपने पुत्र के प्रति अत्यधिक आसक्त था। फिर भी अपने विगत सौभाग्य के कारण, क्योंकि उसने नारायण की भक्ति की थी, उसने पूर्ण भक्ति में तथा निरपराध भाव से पवित्र नाम का कीर्तन किया।”

विकर्षतोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिलम् ।

यमप्रेष्यान्विष्णुदूता वारयामासुरोजसा ॥ ३१ ॥

#### शब्दार्थ

विकर्षतः—छीनते हुए; अन्तः हृदयात्—हृदय के भीतर से; दासी-पतिम्—वेश्या के पति; अजामिलम्—अजामिल को; यम-प्रेष्यान्—यमराज के दूतों को; विष्णु-दूताः—विष्णु के दूतों ने; वारयाम् आसुः—मना किया; ओजसा—गूंजती वाणी में।

यमराज के दूत वेश्यापति अजामिल के हृदय के भीतर से आत्मा को खींच रहे थे, किन्तु भगवान् विष्णु के दूतों ने गूंजती वाणी में उन्हें ऐसा करने से मना किया।

तात्पर्य : एक वैष्णव अर्थात् उस व्यक्ति की, जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले ली है, विष्णुदूतों के द्वारा सदैव रक्षा की जाती है। चूँकि अजामिल ने नारायण के नाम का उच्चारण किया था, अतएव विष्णुदूत न केवल उस स्थान पर तुरन्त आ गये, अपितु उन्होंने यमदूतों को तुरन्त आदेश दिया कि वे उसको हुए भी नहीं। गरजती वाणी में बोलते हुए विष्णुदूतों ने यमदूतों को यह धमकी दी कि यदि वे अजामिल की आत्मा को उसके हृदय से सींचना जारी रखा, तो वे दण्डित होंगे। यमराज के दूतों का कार्यक्षेत्र सभी पापी जीवों तक ही व्याप्त है, किन्तु विष्णुदूत किसी को भी दण्ड देने में सक्षम हैं, जिसमें यमराज भी सम्मिलित हैं, यदि वह किसी वैष्णव के साथ बुरा करें।

भौतिकतावादी विज्ञानी यह नहीं जानते कि वे अपने भौतिक यंत्रों के द्वारा शरीर के भीतर आत्मा की खोज कहाँ करें, किन्तु इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि आत्मा हृदय के भीतर होता है। यमदूत अजामिल की आत्मा हृदय के भीतर से निकाल रहे थे। इसी तरह हम यह जान पाते हैं कि परमात्मा विष्णु भी हृदय के भीतर स्थित हैं ( ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति)। उपनिषदों में कहा गया है कि परमात्मा तथा आत्मा दोनों ही शरीर रूपी एक ही वृक्ष में दो मित्र पक्षियों के रूप में रहते हैं। परमात्मा मित्रवत् कहे जाते हैं, क्योंकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् आदि आत्मा पर इतने दयालु हैं कि जब यह आदि आत्मा एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करता है, तो भगवान् उसके साथ-साथ जाते हैं। यही नहीं, व्यष्टि आत्मा की इच्छा तथा कर्म के अनुसार भगवान् माया के माध्यम से उसके लिए दूसरा शरीर उत्पन्न करते हैं।

शरीर का हृदय एक यांत्रिक व्यवस्था है। *भगवद्गीता* (१८.६१) में भगवान् कहते हैं—

*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।*

*भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥*

“हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और वे भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र में सवार की भाँति बैठे समस्त जीवों को अपनी माया से घुमा (भरमा) रहे हैं।” यन्त्र का अर्थ है मशीन—यथा स्वतोचालित मशीन। शरीररूपी यंत्र का चालक व्यष्टि आत्मा है, जो इसका निर्देशक या स्वामी भी है, किन्तु परम स्वामी तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही हैं। मनुष्य का शरीर माया के माध्यम से उत्पन्न किया जाता है (कर्मणा दैवनेत्रेण) और इस जीवन के कर्मों के अनुसार दूसरा यंत्र उत्पन्न किया जाता है और वह भी दैवी माया के निरीक्षण में (दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया)। उपयुक्त समय पर मनुष्य के अगले शरीर का तत्काल चुनाव किया जाता है और व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही उस शरीर रूपी यंत्र में प्रवेश कर जाते हैं। यह देहान्तरण की विधि है। एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानान्तरण के समय यमराज के दूत आत्मा को निकाल कर उसे विशेष प्रकार के नारकीय जीवन में रखते हैं जिससे वह उस दशा में रहने का अभ्यस्त हो ले

जिसमें उसे अगले शरीर में रहना है।

ऊर्चुर्निषेधितास्तांस्ते वैवस्वतपुरःसराः ।

के यूयं प्रतिषेद्धारो धर्मराजस्य शासनम् ॥ ३२ ॥

### शब्दार्थ

ऊर्चुः—उत्तर दिया; निषेधिताः—मना किये जाने पर; तान्—विष्णुदूतों को; ते—वे; वैवस्वत—यमराज के; पुरः-सराः—सहायक या दूत; के—कौन; यूयम्—तुम सब; प्रतिषेद्-धारः—कौन विरोध कर रहे हो; धर्म-राजस्य—धर्म के राजा, यमराज का; शासनम्—राज्य अधिकार क्षेत्र।

जब सूर्य के पुत्र यमराज के दूतों को इस प्रकार मना किया गया तो उन्होंने कहा, “महाशय! आप कौन हैं जिन्होंने यमराज के अधिकार-क्षेत्र को ललकारने की धृष्टता की है?”

तात्पर्य : अजामिल अपने पापकार्यों के अनुसार, यमराज के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत था, क्योंकि यमराज को समस्त जीवों के पापों पर विचार करने के लिए परम न्यायमूर्ति के रूप में नियुक्त किया गया है। जब अजामिल को स्पर्श करने से यमराज के दूतों को रोका गया तो उन्हें आश्चर्य हुआ, क्योंकि आज तक उन्हें तीनों लोकों में अपना कार्य करने में कभी किसी ने बाधा नहीं पहुँचाई थी।

कस्य वा कुत आयाताः कस्मादस्य निषेधथ ।

किं देवा उपदेवा या यूयं किं सिद्धसत्तमाः ॥ ३३ ॥

### शब्दार्थ

कस्य—किसके सेवक; वा—अथवा; कुतः—कहाँ से; आयाताः—तुम आये हो; कस्मात्—किस कारण से; अस्य—इस अजामिल का ( ले जाना ); निषेधथ—हम मना कर रहे हैं; किम्—क्या; देवाः—देवता; उपदेवाः—तथा उपदेवता; याः—जो; यूयम्—तुम सभी; किम्—क्या; सिद्ध-सत्-तमाः—सिद्धों या शुद्ध भक्तों में सर्वश्रेष्ठ।

महाशयो! तुम किसके सेवक हो, कहाँ से आये हो और अजामिल का शरीर छूने से हमें क्यों मना कर रहे हो? क्या तुम लोग स्वर्गलोक के देवता हो, उपदेवता हो या कि सर्वश्रेष्ठ भक्तों में से कोई हो?

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रयुक्त सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द सिद्ध-सत्तमाः है, जिसका अर्थ है

“सिद्धों में सर्वश्रेष्ठ।” भगवद्गीता (७.३) में कहा गया है—*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये*: लाखों पुरुषों में कोई एक सिद्ध—अथवा दूसरे शब्दों में स्वरूपसिद्ध बनने का प्रयास करता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति जानता है कि वह शरीर नहीं है, अपितु आध्यात्मिक आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*)। आजकल प्रायः सारे लोग इस तथ्य से अनजान हैं, किन्तु जो इसे समझता है, वह सिद्धि प्राप्त कर चुका होता है, अतः सिद्ध कहलाता है। जब मनुष्य समझता है कि वह सर्वश्रेष्ठ चेतन आत्मा का भिन्नांश है और तब सर्वश्रेष्ठ चेतन आत्मा की भक्ति में अपने को लगाता है, तो वह सिद्ध-सत्तम बन जाता है। तब वह वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक में रहने का पात्र बन जाता है। इस प्रकार ‘सिद्ध-सत्तम’ शब्द मुक्त शुद्ध भक्त को वर्णित करता है।

चूँकि यमदूत यमराज के सेवक हैं, जो कि स्वयं सिद्धसत्तमों में से एक हैं, अतः वे जान गये कि सिद्ध सत्तम देवताओं तथा उपदेवताओं से ऊपर है और इतना ही नहीं, इस जगत के सारे जीवों से ऊपर है। अतएव यमदूतों ने विष्णुदूतों से पूछा कि वे लोग उस स्थान पर कैसे उपस्थित हैं जहाँ एक पापी मनुष्य मरने वाला है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि अजामिल अभी मरा नहीं था, क्योंकि यमदूत उसके हृदय से आत्मा निकालने का प्रयास कर रहे थे, व आत्मा को निकाल नहीं सके थे, अतएव अजामिल अभी मरा नहीं था। इसका उद्घाटन बाद के श्लोकों में होगा। जब यमदूतों तथा विष्णुदूतों के मध्य वाद-विवाद चल रहा था, तो अजामिल अचेतन अवस्था में था। वाद-विवाद से इस बात का निर्णय होना था कि अजामिल की आत्मा पर किसका दावा होगा।

सर्वे पद्मपलाशाक्षाः पीतकौशेयवाससः ।

किरीटिनः कुण्डलिनो लसत्पुष्करमालिनः ॥ ३४ ॥

सर्वे च नूत्नवयसः सर्वे चारुचतुर्भुजाः ।

धनुर्निषङ्गासिगदाशङ्खचक्राम्बुजश्रियः ॥ ३५ ॥

दिशो वितिमिरालोकाः कुर्वन्तः स्वेन तेजसा ।

किमर्थं धर्मपालस्य किङ्करान्नो निषेधथ ॥ ३६ ॥

### शब्दार्थ

सर्वे—आप सभी; पद्म-पलाश-अक्षा:—कमल के फूल की पंखड़ियों जैसी आँखों वाले; पीत—पीला; कौशेय—रेशमी; वाससः—वस्त्र पहने हुए; किरीटिनः—मुकुट पहने; कुण्डलिनः—कान में कुंडल पहने; लसत्—चमचमाते; पुष्कर-मालिनः—कमल की माला पहने; सर्वे—आप सभी; च—भी; नूल-वयसः—अत्यन्त तरुण; सर्वे—आप सभी; चारु—अत्यन्त सुन्दर; चतुः-भुजाः—चार भुजाओं वाले; धनुः—धनुष; निषङ्ग—तरकस; असि—तलवार; गदा—गदा; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; अम्बुज—कमल का फूल; श्रियः—से सुशोभित; दिशः—सारी दिशाएँ; वितिमिर—अंधकाररहित; आलोकाः—असामान्य प्रकाश; कुर्वन्तः—प्रकट करते हुए; स्वेन—अपने; तेजसा—तेज से; किम् अर्थम्—क्या प्रयोजन है; धर्म-पालस्य—धर्म के पालनकर्ता यमराज के; किङ्करान्—सेवकों को; नः—हम; निषेधथ—मना कर रहे हो।

यमदूतों ने कहा : आप सभी की आँखें कमल के फूल की पंखड़ियों के समान हैं।

पीला रेशमी वस्त्र पहने, कमल की मालाओं से सुसज्जित तथा अपने सिरों में अत्यन्त आकर्षक मुकुट पहने एवं अपने कानों में कुंडल धारण किये तुम सभी नवयौवन से पूर्ण प्रतीत हो रहे हो। आप सभी की चार लम्बी भुजाएँ धनुष तथा तरकस, तलवार, गदा, शंख, चक्र तथा कमल के फूलों से अलंकृत हैं। आपके तेज ने इस स्थान के अंधकार को अपने असामान्य प्रकाश से भगा दिया है। तो महोदय आप हमें क्यों रोक रहे हैं ?

तात्पर्य : कोई मनुष्य किसी बाहरी व्यक्ति से परिचित कराये जाने के पहले ही उसकी वेशभूषा, शारीरिक बनावट तथा स्वभाव से परिचित हो जाता है और इस तरह उसकी स्थिति को समझ सकता है। अतः जब यमदूतों ने पहले पहल विष्णुदूतों को देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा “अपनी शारीरिक बनावट से तुम लोग अतीव भद्र पुरुष प्रतीत होते हो और तुममें ऐसी स्वर्गिक शक्ति है कि तुमने अपने तेज से इस भौतिक जगत का अंधकार मिटा दिया है। तो फिर आप हमें अपना कार्य करने से रोकने का प्रयास क्यों कर रहे हो?” आगे यह बतलाया जायेगा कि यमदूतों ने गलती से अजामिल को पापी मान लिया था। उन्हें यह ज्ञात न था कि यद्यपि वह अपने सारे जीवन भर पापी रहा, किन्तु नारायण के पवित्र नाम का निरन्तर उच्चारण करते रहने से वह शुद्ध हो चुका था। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई स्वयं वैष्णव न हो वह दूसरे वैष्णव के कार्यों को नहीं समझ सकता।

इन श्लोकों में वैकुण्ठलोक के निवासियों की वेशभूषा तथा शारीरिक बनावट का सही-सही

वर्णन हुआ है। वैकुण्ठ के निवासी मालाओं तथा पीले रेशमी वस्त्रों से सुसज्जित रहते हैं और उनकी चार भुजाएँ होती हैं जिनमें वे विभिन्न शस्त्र धारण किये रहते हैं। इस तरह वे भगवान् विष्णु से अत्यधिक सादृश्य रखते हैं। उनकी शारीरिक बनावट (स्वरूप) नारायण जैसी ही होती है, क्योंकि उन्हें सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई रहती है। किन्तु फिर भी वे सेवकों का कार्य करते हैं। वैकुण्ठलोक के सारे निवासी यह जानते हैं कि उनके स्वामी नारायण अथवा कृष्ण हैं और वे सब उन्हीं के सेवक हैं। वे सभी स्वरूपसिद्ध आत्माएँ हैं, जो कि नित्यमुक्त हैं। यद्यपि वे अपने को प्रामाणिक रूप से नारायण या विष्णु घोषित कर सकते हैं, किन्तु वे ऐसा नहीं करते हैं। वे सदैव कृष्णभावनाभावित रहते हैं और अतीव श्रद्धापूर्वक भगवान् की सेवा करते हैं। वैकुण्ठ लोक का वातावरण ऐसा है। इसी तरह जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के माध्यम से भगवान् कृष्ण की श्रद्धापूर्ण सेवा करना सीख जाता है, वह सदैव वैकुण्ठलोक में रहता है। उसे भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ते यमदूतैस्ते वासुदेवोक्तकारिणः ।

तान्प्रत्यूचुः प्रहस्येदं मेघनिर्हादया गिरा ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्ते—कहे जाने पर; यमदूतैः—यमदूतों के द्वारा; ते—वे; वासुदेव-उक्त-कारिणः—भगवान् वासुदेव के आदेशों को पूरा करने के लिए सदैव सन्नद्ध रहने वाले ( भगवान् विष्णु के निजी संगी जिन्हें सालोक्य मुक्ति प्राप्त हो चुकी है ); तान्—उनको; प्रत्यूचुः—उत्तर दिया; प्रहस्य—हँसकर; इदम्—यह; मेघ-निर्हादया—गरजने वाले बादल के समान गूँजती; गिरा—वाणी से।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : यमराज के दूतों द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किये जाने पर वासुदेव के सेवक मुसकाये और उन्होंने गर्जना करते हुए बादलों की ध्वनि जैसी गम्भीर वाणी में निम्नलिखित शब्द कहे।

तात्पर्य : यमदूतों को यह देखकर आश्चर्य हो रहा था कि विष्णुदूत शिष्ट होकर भी यमराज के शासन में बाधा पहुँचा रहे हैं। इसी तरह विष्णुदूत भी आश्चर्यचकित थे कि अपने को धर्म के परम

निर्णायक के सेवक होने का दावा करने वाले यमदूत धार्मिक कर्म के सिद्धान्तों से परिचित नहीं हैं। अतः यह सोचकर विष्णुदूत हँसने लगे, “ये लोग यह क्या बकवास कर रहे हैं? यदि ये लोग सचमुच यमराज के सेवक हैं, तो इन्हें यह जानना चाहिए था कि अजामिल उनके द्वारा ले जाये जाने के लिए उपयुक्त पात्र नहीं है।”

श्रीविष्णुदूता ऊचुः

यूयं वै धर्मराजस्य यदि निर्देशकारिणः ।

ब्रूत धर्मस्य नस्तत्त्वं यच्चाधर्मस्य लक्षणम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

श्री-विष्णुदूता: ऊचुः—भगवान् विष्णु के अहोभाग्य दूतों ने कहा; यूयम्—तुम सभी; वै—निस्सन्देह; धर्म-राजस्य—धर्म के ज्ञाता यमराज के; यदि—यदि; निर्देश-कारिणः—आज्ञापालक; ब्रूत—तो कहो; धर्मस्य—धार्मिक सिद्धान्तों का; नः—हमसे; तत्त्वम्—सत्य; यत्—जो; च—भी; अधर्मस्य—अधार्मिक कार्यों का; लक्षणम्—लक्षण।

अहोभाग्य विष्णुदूतों ने कहा : यदि तुम लोग सचमुच ही यमराज के सेवक हो तो तुम्हें हमसे धार्मिक सिद्धान्तों के अर्थ तथा अधर्म के लक्षणों की व्याख्या करनी चाहिए।

तात्पर्य : यमदूतों से विष्णुदूतों की यह जिज्ञासा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सेवक को अपने स्वामी के आदेशों को जानना चाहिए। यमराज के सेवक यमराज के दूत होने का दावा कर रहे थे, अतः विष्णुदूतों ने बहुत ही बुद्धिमानी से उनसे धर्म तथा अधर्म के लक्षणों की व्याख्या करने के लिए कहा। एक वैष्णव इन सिद्धान्तों को पूर्णरूपेण जानता है, क्योंकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के आदेशों से भलीभाँति अवगत होता है। परम भगवान् कहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—अन्य सारे धर्मों को त्याग दो और मेरी शरण में आओ। इसलिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण में जाना ही धर्म का वास्तविक सिद्धान्त है। जिन लोगों ने कृष्ण की शरण ग्रहण करने के बजाय भौतिक प्रकृति के सिद्धान्तों की शरण ले रखी है वे सब अपवित्र हैं, चाहे उनका भौतिक पद कुछ भी हो। वे धर्म के सिद्धान्तों से अनजान रहकर कृष्ण की शरण में नहीं जाते, अतएव वे पापी धूर्त, मनुष्यों में अधम तथा समस्त ज्ञान से विहीन मूर्ख समझे जाते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१५) में कृष्ण कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

“जो निपट मूर्ख हैं, जो मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान मोह द्वारा हर लिया गया है तथा जो असुरों की नास्तिक प्रकृति को धारण करने वाले हैं, ऐसे दुष्ट मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।” जिसने कृष्ण की शरण ग्रहण नहीं की वह धर्म के असली सिद्धान्त को नहीं जानता, अन्यथा वह शरण ग्रहण कर चुका होता।

विष्णुदूतों द्वारा पूछा गया प्रश्न अति सटीक था। जो किसी अन्य व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कर रहा हो उसे उस व्यक्ति के मन्तव्य (मिशन) को जानना चाहिए। इसलिए कृष्णभावनामृत के भक्तों को कृष्ण तथा श्री चैतन्य महाप्रभु के मिशन से पूर्णतया अवगत होना चाहिए, अन्यथा वे मूर्ख समझे जायेंगे। सारे भक्तों, विशेषतया प्रचारकों को कृष्णभावनामृत का दर्शन जानना चाहिए, जिससे प्रचार करते समय उन्हें उलझन तथा अपमान न सहना पड़े।

कथं स्विद्धियते दण्डः किं वास्य स्थानमीप्सितम् ।

दण्ड्याः किं कारिणः सर्वे आहो स्वित्कतिचित्रणाम् ॥ ३९ ॥

#### शब्दार्थ

कथम् स्वित्—किस साधन से; धियते—लगाया जाता है; दण्डः—दण्ड; किम्—क्या; वा—अथवा; अस्य—इसका; स्थानम्—स्थान; ईप्सितम्—वांछित; दण्ड्याः—दण्डनीय; किम्—क्या; कारिणः—सकाम कर्मी; सर्वे—समस्त; आहो स्वित्—अथवा कि; कतिचित्—कुछ; नृणाम्—मनुष्यों का।

दूसरों को दण्ड देने की विधि क्या है? दण्ड के वास्तविक पात्र कौन हैं? क्या सकाम कर्मों में लगे सारे कर्मी दण्डनीय हैं या उनमें से केवल कुछ ही हैं?

तात्पर्य : जिसके पास दूसरों को दण्ड देने का अधिकार हो उसे चाहिए कि हर किसी को दण्ड न दे। जीव तो असंख्य हैं जिनमें से अधिकांश आध्यात्मिक जगत में हैं और नित्यमुक्त हैं। इन मुक्त जीवों के विषय में निर्णय करने का प्रश्न ही नहीं उठता। थोड़े से ही, शायद एक चौथाई, जीव भौतिक जगत में रहते हैं और भौतिक जगत के जीवों का प्रमुख अंग—८४,००,०००



जीवयोनियों में से ८० लाख जीव योनियाँ—तो मनुष्यों से निम्न हैं। ये जीव योनियाँ दण्डनीय नहीं हैं, क्योंकि प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत वे स्वतः विकास कर रही हैं। चेतना में उन्नत मनुष्य उत्तरदायी जीव हैं, किन्तु उनमें से सभी दण्डनीय नहीं हैं। जो लोग उच्च पवित्र कार्यों में लगे हैं, वे दण्ड से परे हैं। जो लोग पापकर्मों में लगे हुए हैं, वे ही दण्डनीय हैं। इसलिए विष्णुदूतों ने विशेष रूप से यह पूछा कि कौन दण्डनीय है और क्यों यमराज को यही भेदभाव करने के लिए नियुक्त किया गया है कि कौन दण्डनीय है और कौन नहीं है? किसी के विषय में किस तरह निर्णय किया जाये? अधिकार का मूल सिद्धान्त क्या है? विष्णुदूतों ने इन्हीं प्रश्नों को उठाया।

यमदूता ऊचुः

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ।

वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम ॥ ४० ॥

#### शब्दार्थ

यमदूताः ऊचुः—यमदूतों ने कहा; वेद—चारों वेदों ( साम, यजु, ऋग तथा अथर्व ) से; प्रणिहितः—स्वीकृत, संस्तुत; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; हि—निस्सन्देह; अधर्मः—अधार्मिक सिद्धान्त; तत्-विपर्ययः—उसके विपरीत ( जो वैदिक आदेशों द्वारा समर्थित नहीं है ); वेदः—ज्ञान के ग्रन्थ, वेद; नारायणः साक्षात्—प्रत्यक्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ( नारायण के शब्द होने से ); स्वयम्-भूः—स्वतः जन्मा, आत्मनिर्भर ( नारायण की श्वास से प्रकट होने वाला तथा अन्य किसी से न सीखा हुआ ); इति—इस प्रकार; शुश्रुम—हमने सुना है।

यमदूतों ने उत्तर दिया: जो वेदों द्वारा संस्तुत है, वही धर्म है और इसका विलोम अधर्म है। वेद साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, नारायण हैं और स्वयं उत्पन्न हुए हैं। हमने यमराज से यह सुना है।

तात्पर्य : यमराज के सेवकों ने एकदम सही उत्तर दिया। उन्होंने धर्म या अधर्म के नियमों को गढ़ने की बजाए यमराज के मुख से जो सुना था उसे बतला दिया। महाजनो येन गतः स पन्थाः। मनुष्य को चाहिए कि महाजन अर्थात् प्रामाणिक व्यक्ति का अनुसरण करे। यमराज बारह अधिकारियों (महाजनों) में से एक हैं। इसलिए यमराज के सेवकों अर्थात् यमदूतों ने पूर्ण स्पष्टता के साथ उत्तर दिया कि हमने सुना है ( शुश्रुम )। आधुनिक सभ्यता के सदस्य मनगढ़ंत दोषपूर्ण धार्मिक सिद्धान्त गढ़ लेते हैं। यह धर्म नहीं है। वे यह जानते ही नहीं कि धर्म क्या है और अधर्म

क्या है। इसीलिए, जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है— *धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र*— वह धर्म जिसका समर्थन वेद नहीं करते *श्रीमद्भागवत धर्म* में अमान्य है। *भागवतधर्म* में उतना ही रहता है, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा प्रदत्त होता है। *भागवतधर्म* तो *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज* है—मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सत्ता स्वीकार करके उनकी शरण में जाना चाहिए और वे जो कुछ कहते हैं, मानना चाहिए। यही धर्म है। उदाहरणार्थ अर्जुन यह सोच कर कि हिंसा अधर्म है, युद्ध करने से इनकार कर रहा था, किन्तु कृष्ण ने उसे युद्ध करने के लिए प्रेरित किया। अर्जुन ने कृष्ण के आदेश का पालन किया, अतएव वह वास्तव में धर्मी है, क्योंकि कृष्ण का आदेश धर्म है। *भगवद्गीता* (१५.१५) में कृष्ण कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वेद अर्थात् ज्ञान का असली उद्देश्य मुझे जानना है। जो कृष्ण को पूरी तरह जान लेता है, वह मुक्त है। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.९) में कृष्ण कहते हैं—

*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।*

*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥*

“हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुनःजन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।” जो कृष्ण को समझता है और उनके आदेश का पालन करता है, वह घर को लौटने अर्थात् भगवद्धाम वापस जाने का पात्र है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धर्म उसका द्योतक है, जिसका वेदों में आदेश हुआ है और अधर्म वह है, जो वेदों द्वारा समर्थित नहीं है।

वस्तुतः धर्म नारायण द्वारा गढ़ा हुआ नहीं है। वेदों में कहा गया है—*अस्य महतो भूतस्य निश्वासितम् एतद् यद् ऋग्वेदः इति*—धर्म के आदेश परम पुरुष नारायण की श्वास से निकलते हैं। नारायण शाश्वत विद्यमान रहते हैं और शाश्वत श्वास लेते हैं, अतएव धर्म अर्थात् नारायण के आदेश भी शाश्वत विद्यमान रहते हैं। मध्व-गौड़िय-सम्प्रदाय के आदि आचार्य श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

*वेदानां प्रथमो वक्ता हरिरेव यतो विभुः ।*

अतो विष्णवात्मका वेदा इत्याहुर्वेदवादिनः ॥

वेदों के दिव्य शब्द पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के मुख से निकले हैं। अतएव वैदिक सिद्धान्तों को वैष्णव सिद्धान्त समझना चाहिए, क्योंकि वेदों के उद्गम विष्णु हैं। वेदों में विष्णु के आदेशों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और जो वैदिक सिद्धान्तों का पालन करता है, वह वैष्णव है। वैष्णव इस जगत द्वारा गढ़े हुए जनसमुदाय का सदस्य नहीं होता। वैष्णव तो वेदों का असली ज्ञाता होता है, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता में हुई है ( वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ) ।

येन स्वधाम्न्यमी भावा रजःसत्त्वतमोमयाः ।

गुणनामक्रियारूपैर्विभाव्यन्ते यथातथम् ॥ ४१ ॥

#### शब्दार्थ

येन—जिस ( नारायण ) के द्वारा; स्व-धाम्नि—यद्यपि अपने स्थान अर्थात् आध्यात्मिक जगत में; अमी—ये सब; भावाः—अभिव्यक्तियाँ; रजः-सत्त्व-तमः-मयाः—भौतिक प्रकृति के तीन गुणों ( सतो, रजो तथा तमो ) द्वारा उत्पन्न; गुण—गुण; नाम—नाम; क्रिया—कार्यकलाप; रूपैः—तथा रूपों से; विभाव्यन्ते—विविध रूप में प्रकट हैं; यथा-तथम्—सही सही।

समस्त कारणों के परम कारण रूप नारायण आध्यात्मिक जगत में अपने धाम में स्थित हैं तथापि वे भौतिक प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—के अनुसार सम्पूर्ण विराट जगत का नियंत्रण करते हैं। इस तरह विभिन्न जीवों को भिन्न-भिन्न गुण, नाम ( यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ), वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कार्य तथा रूप प्रदान किये जाते हैं। नारायण सम्पूर्ण विराट जगत के कारणस्वरूप है।

तात्पर्य : वेद हमें सूचित करते हैं—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते ।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

( श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.८ )

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण सर्वशक्तिमान हैं। उनकी शक्तियाँ विविध हैं, अतएव वे अपने धाम में बने रहने में समर्थ हैं और बिना प्रयत्न के वे तीन गुणों—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—की अन्योन्य क्रिया के माध्यम से सम्पूर्ण विराट जगत का अधीक्षण तथा संचालन कर सकते हैं। इन क्रियाओं से विभिन्न रूप, शरीर, कार्य तथा परिवर्तन उत्पन्न होते रहते हैं और वे भलीभाँति घटित होते हैं। चूँकि भगवान् पूर्ण हैं, इसलिए हर कार्य इस तरह चलता रहता है मानो वे प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण कर रहे हों तथा उसमें भाग ले रहे हों। किन्तु नास्तिक लोग तीन गुणों से प्रच्छन्न होने के कारण नारायण को समस्त कार्यों के परम कारण के रूप में नहीं देख सकते। जैसा कि *भगवद्गीता* (७.१३) में कृष्ण कहते हैं—

*त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।*

*मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥*

“तीनों गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के द्वारा मोहग्रस्त यह सारा संसार मुझ गुणातीत तथा अविनाशी को नहीं जानता।” चूँकि मूर्ख संशयवादी *मोहित* हैं—तीनों गुणों द्वारा मोहग्रस्त हैं, अतएव वे यह नहीं समझ पाते कि नारायण या कृष्ण ही समस्त कार्यों के परम कारण हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में कहा गया है—

*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।*

*अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥*

“गोविन्द कहलाने वाले कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सभी के उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं, क्योंकि वे समस्त कारणों के परम कारण हैं।”

सूर्योऽग्निः खं मरुद्देवः सोमः सन्ध्याहनी दिशः ।

कं कुः स्वयं धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः ॥ ४२ ॥

## शब्दार्थ

सूर्यः—सूर्यदेव; अग्निः—अग्नि; खम्—आकाश; मरुत्—वायु; देवः—देवता; सोमः—चन्द्रमा; सन्ध्या—सायंकाल; अहनी—दिन तथा रात; दिशः—दिशाएँ; कम्—जल; कुः—पृथ्वी; स्वयम्—स्वयं; धर्मः—यमराज या परमात्मा; इति—इस प्रकार; हि—निस्सन्देह; एते—ये सभी; दैह्यस्य—जीव के भौतिक तत्त्वों के शरीर में; साक्षिणः—साक्षी, गवाह।

सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, देवगण, चन्द्रमा, संध्या, दिन, रात, दिशाएँ, जल, स्थल तथा स्वयं परमात्मा—ये सभी जीव के कार्यों के साक्षी हैं।

तात्पर्य : कुछ धार्मिक सम्प्रदायों के सदस्य विशेष रूप से ईसाई कर्म के फलों में विश्वास नहीं करते। एक बार हमने एक विद्वान ईसाई प्रोफेसर से विचार-विमर्श किया, तो उसने यह तर्क दिया कि यद्यपि लोगों को उनके दुष्कर्मों के लिए तब दण्ड दिया जाता है जब साक्षियों से सबूत मिल जाते हैं, किन्तु ये साक्षी किसी के विगत कर्मों के फलों के लिए कष्ट पाने के लिए जिम्मेदार कहाँ हैं? ऐसे व्यक्ति के लिए यहाँ पर यमदूतों ने उत्तर दिया है। बद्धजीव यह सोचता है कि वह चोरी-चुपके कार्य कर रहा है और उसके पापकर्मों को कोई नहीं देख सकता, किन्तु शास्त्रों से हमें यह समझ लेना चाहिए कि साक्षी अनेक हैं यथा सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, चन्द्रमा, देवता, संध्या, दिन, रात, दिशाएँ, जल, स्थल तथा स्वयं परमात्मा जो प्रत्येक हृदय में आत्मा के रूप में स्थित है। साक्षियों की कमी कहाँ है? साक्षी तथा परमेश्वर दोनों विद्यमान हैं, इसीलिए अनेक जीवों को या तो उच्च लोकों में लाया जाता है या नरक जैसे निम्नलोकों में नीचे गिरा दिया जाता है। इसमें कोई त्रुटि नहीं हो पाती, क्योंकि हर वस्तु की व्यवस्था परमेश्वर के प्रबन्ध द्वारा की जाती है (स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च)। इस श्लोक में जिन साक्षियों का उल्लेख हुआ है वे अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी वर्णित हैं—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च

द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये

धर्मोऽपि जानाति नरस्य वृत्तम् ॥

एतैरधर्मो विज्ञातः स्थानं दण्डस्य युज्यते ।  
सर्वे कर्मानुरोधेन दण्डमर्हन्ति कारिणः ॥ ४३ ॥

### शब्दार्थ

एतैः—इन सबों ( सूर्य इत्यादि साक्षियों ) के द्वारा; अधर्मः—विधि विधानों से विचलन; विज्ञातः—ज्ञात है; स्थानम्—उचित स्थान; दण्डस्य—दंड का; युज्यते—के रूप में स्वीकार किया जाता है; सर्वे—समस्त; कर्म-अनुरोधेन—सम्पन्न कार्यों पर विचार करते हुए; दण्डम्—दण्ड; अर्हन्ति—योग्यता रखते हैं; कारिणः—पापकर्म करने वाले।

दण्ड के पात्र वे हैं जिसकी पुष्टि इन अनेक साक्षियों ने की है कि वे निर्दिष्ट नियमित कार्यों से विचलित हुए हैं। सकाम कर्मों में लगा हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपने पापकर्मों के अनुसार दण्ड दिये जाने के लिए उपयुक्त होता है।

सम्भवन्ति हि भद्राणि विपरीतानि चानघाः ।  
कारिणां गुणसङ्गोऽस्ति देहवान्न ह्यकर्मकृत् ॥ ४४ ॥

### शब्दार्थ

सम्भवन्ति—हैं; हि—निस्सन्देह; भद्राणि—शुभ, पवित्र कार्य; विपरीतानि—बिल्कुल उल्टे ( अशुभ, पापकर्म ); च—भी; अनघाः—हे पापरहित वैकुण्ठवासियों; कारिणाम्—सकाम कर्मियों का; गुण-सङ्गः—प्रकृति के तीन गुणों का कल्मष; अस्ति—है; देह-वान्—इस भौतिक शरीर को स्वीकार करने वाला, देहधारी; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अकर्म-कृत्—कर्म किये बिना।

हे वैकुण्ठवासियों! तुम लोग निष्पाप हो, किन्तु इस भौतिक जगत के भीतर रहने वाले सारे वासी कर्मी हैं, चाहे वे शुभ कर्म कर रहे हों या अशुभ। ये दोनों प्रकार के कर्म उनके लिए सम्भव हैं, क्योंकि वे प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा कलुषित रहते हैं और उन्हें तदनुसार कर्म करना पड़ता है। जिसने भी भौतिक शरीर अपनाया है, वह निष्क्रिय नहीं हो सकता और प्रकृति के तीन गुणों के अधीन कर्म करने वाले के लिए पापकर्म से बच पाना असम्भव है। इसलिए इस जगत के सारे जीव दण्डनीय हैं।

तात्पर्य : मनुष्यों तथा मनुष्येतर प्राणियों में यही अन्तर है कि मनुष्य से अपेक्षा की जाती है कि वह वेदों के आदेश के अनुसार कर्म करे। दुर्भाग्यवश मनुष्य वेदों की परवाह न करते हुए कर्म की अपनी शैली गढ़ लेते हैं। इसीलिए वे सभी लोग पापकर्म करते हैं और दण्डनीय हैं।

येन यावान्यथाधर्मो धर्मो वेह समीहितः ।

स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै ॥ ४५ ॥

### शब्दार्थ

येन—जिस व्यक्ति द्वारा; यावान्—जिस हद तक; यथा—जिस रीति से; अधर्मः—अधार्मिक कार्य; धर्मः—धार्मिक कार्य; वा—अथवा; इह—इस जीवन में; समीहितः—सम्पन्न हुए; सः—वह व्यक्ति; एव—निस्सन्देह; तत्-फलम्—उसका विशेष फल; भुङ्क्ते—आनन्द लेता है या कष्ट उठाता है; तथा—उसी तरह से; तावत्—उसी हद तक; अमुत्र—अगले जीवन में; वै—निस्सन्देह।

इस जीवन में अपने धार्मिक या अधार्मिक कार्यों की मात्रा के अनुपात में मनुष्य अपने अगले जीवन में अपने कर्म के अनुरूप फलों का भोग करता है या कष्ट उठाता है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१४.१८) में कहा गया है कि—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

जो लोग सतोगुणी होते हैं, वे देवता बनने के लिए उच्चतर लोकों में भेज दिये जाते हैं, जो सामान्य रीति से कर्म करते हैं और अत्यधिक पापकर्म नहीं करते वे इस मध्यलोक में रहते हैं तथा जो अत्यन्त घृणित पाप कर्म करते हैं, उन्हें नारकीय जीवन में नीचे जाना पड़ता है।

यथेह देवप्रवरास्त्रैविध्यमुपलभ्यते ।

भूतेषु गुणवैचित्र्यात्तथान्यत्रानुमीयते ॥ ४६ ॥

### शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; इह—इस जीवन में; देव-प्रवराः—हे देवताओं में श्रेष्ठ; त्रै-विध्यम्—तीन प्रकार के गुण; उपलभ्यते—प्राप्त किये जाते हैं; भूतेषु—सारे जीवों के मध्य; गुण-वैचित्र्यात्—तीन गुणों के द्वारा कल्मष की विविधता के कारण; तथा—उसी तरह; अन्यत्र—अन्य स्थानों में; अनुमीयते—अनुमान लगा लिया जाता है।

हे देवश्रेष्ठो! हम विभिन्न प्रकार के तीन जीवन देखते हैं, जो प्रकृति के तीन गुणों के कल्मष के कारण हैं। इस तरह जीव शान्त, अशान्त तथा मूर्ख; सुखी, दुःखी या इन दोनों के बीच; तथा धार्मिक, अधार्मिक या अर्धधार्मिक जाने जाते हैं। हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अगले जीवन में ये तीन प्रकार की प्रकृतियाँ इसी प्रकार से कर्म करेंगी।

तात्पर्य : प्रकृति के तीन गुणों के कार्य तथा फल इसी जीवन में दृष्टिगोचर होते हैं।

उदाहरणार्थ, कुछ लोग अतीव सुखी हैं, कुछ अत्यधिक पीड़ित हैं और कुछ सुख तथा दुख की मिली जुली स्थिति में हैं। यह प्रकृति के गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुण—के साथ विगत संगति का परिणाम है। चूँकि ये विविधताएँ इस जीवन में दृष्टिगोचर होती हैं, अतः हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि सारे जीव प्रकृति के विभिन्न गुणों के संसर्ग के अनुसार अपने अगले जीवनों में भी सुखी, दुखी या इन दोनों के बीच में होंगे। इसलिए सबसे अच्छी नीति तो यह है कि अपने को प्रकृति के तीन गुणों से विलग कर लिया जाये और उनके कल्मष से सदैव परे रहा जाये। ऐसा तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने को भगवान् की भक्ति में पूरी तरह लगा दे। जैसा कि *भगवद्गीता* (१४.२६) में कृष्ण पुष्टि करते हैं—

*मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।*

*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥*

“जो समस्त परिस्थितियों में एकान्तिक भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म के पद तक पहुँच जाता है।” भगवान् की सेवा में पूरी तरह से लीन हुए बिना मनुष्य प्रकृति के तीन गुणों के कल्मष से प्रभावित होता रहता है, अतः वह दुख या सुख तथा दुःख के मिले-जुले रूप को भोगता है।

वर्तमानोऽन्ययोः कालो गुणाभिज्ञापको यथा ।

एवं जन्मान्ययोरेतद्धर्माधर्मनिदर्शनम् ॥ ४७ ॥

### शब्दार्थ

वर्तमानः—वर्तमान; अन्ययोः—भूत तथा भविष्य का; कालः—समय; गुण-अभिज्ञापकः—गुणों को प्रकट कराते हुए; यथा—जिस तरह; एवम्—इस प्रकार; जन्म—जन्म; अन्ययोः—भूत तथा भावी जन्मों का; एतत्—यह; धर्म—धार्मिक सिद्धान्त; अधर्म—अधार्मिक सिद्धान्त; निदर्शनम्—सूचित करते हुए।

जिस तरह वर्तमान वसन्त काल भूत तथा भविष्य काल के वसन्त कालों को सूचित करता है, उसी तरह सुख, दुःख या दोनों से मिश्रित यह जीवन मनुष्य के भूत तथा भावी जीवनों के धार्मिक तथा अधार्मिक कार्यों के विषय में साक्ष्य प्रस्तुत करता है।



**तात्पर्य :** हमारे लिए भूत तथा भविष्य को समझ पाना बहुत कठिन नहीं है, क्योंकि काल प्रकृति के तीन गुणों के कल्मष के अधीन होता है। वसन्त ऋतु के आगमन के साथ ही विविध प्रकार के फल-फूल स्वतः प्रकट हो जाते हैं, अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भूतकाल में वसन्त इसी तरह के फलों तथा फूलों से अलंकृत थी और भविष्य में भी रहेगी। हमारे जन्म-मृत्यु का चक्र काल के भीतर चल रहा है और प्रकृति के गुणों के प्रभाव के अनुसार हम विविध प्रकार के शरीर प्राप्त करते हैं और विविध स्थितियों के अनुकूल बनते हैं।

**मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति ।**

**अनुमीमांसतेऽपूर्वं मनसा भगवानजः ॥ ४८ ॥**

#### शब्दार्थ

मनसा—मन से; एव—निस्सन्देह; पुरे—अपने धाम में या परमात्मा रूप में प्रत्येक के हृदय में; देवः—यमराज देव ( दिव्यातीत देवः, जो सदैव तेजोमय तथा दीप्त रहे वह देवता कहलाता है ); पूर्व-रूपम्—विगत धार्मिक या अधार्मिक स्थिति; विपश्यति—पूरी तरह देखते भालते हैं; अनुमीमांसते—वह विचार करता है; अपूर्वम्—भावी स्थिति; मनसा—अपने मन से; भगवान्—जो सर्वशक्तिमान है; अजः—ब्रह्मा के ही समान।

सर्वशक्तिमान यमराज ब्रह्माजी के ही समान हैं, क्योंकि जब वे अपने निजी धाम या परमात्मा की भांति हर एक के हृदय में स्थित होते हैं, वे मन के द्वारा जीव के विगत कार्यों का अवलोकन करते हैं और यह समझ जाते हैं कि जीव अगले जीवन में किस तरह कर्म करेगा।

**तात्पर्य :** यमराज को सामान्यजीव नहीं मानना होगा। वे ब्रह्माजी के ही समान हैं। उन्हें प्रत्येक हृदय में वास करने वाले परम भगवान् का पूर्ण सहयोग प्राप्त है, अतः वे परमात्मा की कृपा से जीव के भीतर से उसके भूत, वर्तमान तथा भविष्य को देख सकते हैं। *अनुमीमांसते* शब्द का अर्थ है कि वे परमात्मा से विचार-विमर्श करके निर्णय ले सकते हैं। *अनु* का अर्थ है “अनुसरण करते हुए।” जीवों के अगले जीवनो के विषय में वास्तविक निर्णय परमात्मा द्वारा लिये जाते हैं और यमराज द्वारा उनको पूरा किया जाता है।

यथाज्ञस्तमसा युक्त उपास्ते व्यक्तमेव हि ।  
न वेद पूर्वमपरं नष्टजन्मस्मृतिस्तथा ॥ ४९ ॥

### शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अज्ञः—मूर्ख जीव; तमसा—निद्रा में; युक्तः—लगा हुआ; उपास्ते—के अनुसार कार्य करता है; व्यक्तम्—स्वप्न में प्रकट शरीर; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह; न वेद—नहीं जानता; पूर्वम्—विगत शरीर; अपरम्—अगला शरीर; नष्ट—नष्ट; जन्म-स्मृतिः—जन्म लेने का स्मरण; तथा—उसी प्रकार।

जिस तरह सोया हुआ व्यक्ति अपने स्वप्न में प्रकट हुए शरीर के अनुसार कार्य करता है और उसे स्वयं मान लेता है उसी तरह मनुष्य अपने वर्तमान शरीर से अपनी पहचान बनाता है, जिसे उसने अपने विगत धार्मिक या अधार्मिक कार्यों के कारण प्राप्त किया है और वह अपने विगत या भावी जीवनो को जान पाने में असमर्थ रहता है।

तात्पर्य : मनुष्य पापकर्मों में इसलिए प्रवृत्त होता है, क्योंकि वह यह नहीं जानता कि उसने अपने वर्तमान बद्ध शरीर को प्राप्त करने के लिए विगत जीवन में क्या किया था, जो तीन प्रकार के कष्टों से प्रभावित होता रहता है। श्रीमद्भागवत (५.५.४) में ऋषभदेव कहते हैं—*नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म—*इन्द्रिय-तृप्ति के पीछे पागल रहने वाला मनुष्य पाप करने में कोई संकोच नहीं करता। *यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति—*वह एकमात्र इन्द्रिय-तृप्ति के लिए पापकर्म करता है। *न साधु मन्ये—*यह अच्छी बात नहीं। *यत् आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद् आस देहः—*ऐसे पापकर्मों के कारण मनुष्यों को दूसरा शरीर प्राप्त होता है, जिसमें उसे कष्ट भोगना होता है, जिस तरह अपने विगत पापकर्मों के कारण वह वर्तमान शरीर में कष्ट पाता है।

यह समझ लेना होगा कि जिस व्यक्ति को वैदिक ज्ञान नहीं है, वह अज्ञानवश इस बात को नहीं जानता कि उसने भूतकाल में क्या किया है, वर्तमान में क्या कर रहा है और भविष्य में वह किस तरह कष्ट उठायेगा। वह पूर्णतया अंधकार में रहता है। इसीलिए वैदिक आदेश है—*तमसि मा—*अंधकार में मत रहो। *ज्योतिर्गम—*प्रकाश में जाने का प्रयास करो। यह प्रकाश वैदिक ज्ञान है, जिसे वह या तो सतोगुण पद पर पहुँच कर समझ सकता है या जब वह गुरु तथा परमेश्वर की भक्ति में लगे रहने से सतोगुण को लाँघ जाता है। इसका वर्णन *श्वेताश्वत उपनिषद्* (६.२३) में हुआ

है—

*यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।*

*तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥*

“जिन महात्माओं को भगवान् तथा गुरु दोनों पर पूर्ण श्रद्धा होती है, उन्हें वैदिक ज्ञान के सारे आशय स्वतः प्रकट हो जाते हैं।” वेदों का आदेश है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु के पास जाये जिसे वेदों का पूर्ण ज्ञान होता है और भगवद्भक्त बनने के लिए उससे श्रद्धापूर्वक निर्देशन प्राप्त करे। तब वेदों का ज्ञान प्रकट होगा। वैदिक ज्ञान प्रकट हो जाने पर भौतिक प्रकृति के अंधकार में रहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

जीव को प्रकृति के गुणों—सतो, रजो तथा तमोगुणों—के साथ संसर्ग के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। सतोगुण से संसर्ग करने वाले का उदाहरण एक योग्य ब्राह्मण है। ऐसा ब्राह्मण भूत, वर्तमान तथा भविष्य जानता है, क्योंकि वह वैदिक साहित्य कि सम्मति लेता है और शास्त्रों को आँखों से देखता है (*शास्त्र-चक्षुः*)। वह यह समझ सकता है कि उसका विगत जीवन क्या था, वह वर्तमान शरीर में क्यों है और वह दूसरा भौतिक शरीर न प्राप्त करते हुए माया के पाश से किस तरह मुक्ति प्राप्त कर सकता है और दूसरा भौतिक शरीर स्वीकार नहीं करता। ऐसा तभी सम्भव है जब वह सतोगुण को प्राप्त हो। किन्तु सामान्यतया सारे जीव रजो तथा तमो गुणों में उलझे रहते हैं।

प्रत्येक दशा में मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्थात् परमात्मा की इच्छा के अनुसार निम्न या श्रेष्ठ शरीर प्राप्त होता है। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है—

*मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति ।*

*अनुमीमांसतेऽपूर्वम् मनसा भगवान् अजः ॥*

हर बात भगवान् अथवा अजः अर्थात् अजन्मा पर निर्भर करती है। अच्छा शरीर पाने के लिए कोई भगवान् को क्यों नहीं प्रसन्न करता? उत्तर है *अज्ञस्तमसा*—निपट अज्ञान के कारण। जो पूर्ण

अंधकार में रहता है, वह यह नहीं जानता कि उसका विगत जीवन क्या था या उसका अगला जीवन क्या होगा? वह तो अपने वर्तमान शरीर में ही रुचि लेता है। यद्यपि उसको मनुष्य का शरीर मिला रहता है, किन्तु जो मनुष्य तमोगुण में रहता है, वह पशु के समान है, जो अपने वर्तमान शरीर में ही रुचि रखता है, क्योंकि एक पशु अज्ञान से प्रच्छन्न होने के कारण यह सोचता है कि जीवन का चरम लक्ष्य तथा सुख यथासम्भव भोजन करना है। मनुष्य को शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह अपने विगत जीवन को समझे तथा यह समझे कि भविष्य में अच्छे जीवन के लिए वह किस तरह प्रयास करे। *भृगुसंहिता* नामक एक ग्रन्थ भी है, जो मनुष्य के भूत, वर्तमान तथा भविष्य जीवन को ज्योतिष गणनाओं के अनुसार बतलाता है। जैसे भी हो, मनुष्य को अपने भूत, वर्तमान तथा भविष्य के विषय में प्रबुद्ध होना चाहिए। जो एकमात्र अपने वर्तमान शरीर में रुचि लेता है और जो अपनी इन्द्रियों का जी-भर कर भोग करना चाहता है, वह तमोगुण में उलझा समझा जाता है। उसका भविष्य अत्यन्त अंधकारमय होता है। निस्सन्देह, जो अज्ञान से बुरी तरह प्रच्छन्न रहता है उसके लिए भविष्य सदा अंधकारमय रहता है। विशेषतया इस युग में, मानव-समाज तमोगुण से प्रच्छन्न है इसलिए हर व्यक्ति, अपने भूत तथा भविष्य पर विचार किए बिना वर्तमान शरीर को सब कुछ मानता है।

**पञ्चभिः कुरुते स्वार्थान्पञ्च वेदाथ पञ्चभिः ।**

**एकस्तु षोडशेन त्रीन्स्वयं सप्तदशोऽश्नुते ॥ ५० ॥**

### शब्दार्थ

पञ्चभिः—पाँच कर्मेन्द्रियों ( वाणी, बाहें, पाँव, गुदा तथा जननांग ) से; कुरुते—करता है; स्व-अर्थान्—अपनी इच्छित रुचियाँ; पञ्च—पाँच इन्द्रियविषय ( ध्वनि, रूप, स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद ); वेद—जानता है; अथ—इस प्रकार; पञ्चभिः—पाँच ज्ञान की ( सुनना, देखना, सूँघना, आस्वादन करना तथा अनुभव करना ) इन्द्रियों के द्वारा; एकः—एक; तु—लेकिन; षोडशेन—इन पन्द्रहों तथा मन, सोलह के द्वारा; त्रीन्—अनुभव की तीन कोटियाँ ( सुख, दुख तथा दोनों का मिश्रण ); स्वयम्—वह, स्वयं जीव; सप्तदशः—सत्रहवीं वस्तु; अश्नुते—भोग करता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच इन्द्रियविषयों के ऊपर मन होता है, जो सोलहवाँ तत्त्व है। मन के ऊपर सत्रहवाँ तत्त्व आत्मा स्वयं जीव है, जो अन्य सोलह के

सहयोग से अकेले भौतिक जगत का भोग करता है। जीव तीन प्रकार की स्थितियों का भोग करता है, यथा सुख दुःख तथा मिश्रित सुख-दुःख।

तात्पर्य : हर व्यक्ति अपने हाथों, पाँवों तथा अन्य इन्द्रियों से काम में लगा रहता है, जिससे उसके मनोरथों के अनुसार निश्चित लक्ष्य प्राप्त हो सके। वह पाँच इन्द्रियविषयों का अर्थात् रूप, ध्वनि, स्वाद, गंध तथा स्पर्श का आनन्द बिना यह जाने लेना चाहता है कि जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है, जो कि परमेश्वर को प्रसन्न करना है। परमेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण ही मनुष्य को भौतिक स्थितियों में रखा जाता है और तब वह मनमाने ढंग से अपनी स्थिति को सुधारना चाहता है, किन्तु वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के आदेशों का पालन करना नहीं चाहता। फिर भी परमेश्वर इतने दयालु हैं कि वे मोहग्रस्त जीव को यह उपदेश देने के लिए स्वयं आते हैं कि किस तरह आज्ञाकारी बनकर कर्म करना चाहिए और क्रमशः भगवद्धाम लौटना चाहिए, जहाँ वह आनन्द तथा ज्ञान का नित्य शान्तिमय जीवन प्राप्त कर सके। जीव के शरीर होता है, जो भौतिक तत्त्वों का अत्यन्त जटिल संयोग है और इस शरीर से वह अकेले संघर्ष करता है जैसाकि इस श्लोक में एकस्तु शब्दों द्वारा इंगित किया गया है। उदाहरणार्थ, यदि कोई समुद्र में संघर्ष कर रहा है, तो उसे अकेले ही तैर कर उसे पार करना होता है। यद्यपि अन्य अनेक मनुष्य तथा जलचर समुद्र में तैरते रहते हैं, किन्तु उन्हें अपनी देखभाल स्वयं करनी होती है, क्योंकि अन्य कोई उनकी सहायता नहीं करेगा। इसलिए यह श्लोक इंगित करता है कि सत्तरहवीं वस्तु आत्मा को अकेले ही कर्म करना होगा। यद्यपि वह समाज, मैत्री तथा प्रेम उत्पन्न करना चाहता है, किन्तु कृष्ण अर्थात् परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई उसकी सहायता नहीं कर सकेगा। अतएव उसकी एकमात्र चिन्ता यही होनी चाहिए कि कृष्ण को किस तरह तुष्ट किया जाये। कृष्ण भी यही चाहते हैं ( सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज)। भौतिक स्थितियों से मोहग्रस्त लोग एक होना चाहते हैं और वे मनुष्यों तथा राष्ट्रों के बीच एकता के लिए प्रयास भी करते हैं, किन्तु उनके सारे प्रयास व्यर्थ हैं। हर व्यक्ति को प्रकृति के अनेक तत्त्वों के साथ अपने अस्तित्व के लिए अकेले ही संघर्ष

करना चाहिए। अतएव उसकी एकमात्र आशा कृष्ण की शरण ग्रहण करना है, जैसाकि कृष्ण मंत्रणा देते हैं, क्योंकि वे अज्ञान के सागर से मुक्त होने में सहायता कर सकते हैं। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रार्थना की है—

*अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।*

*कृपया तव पादपंकजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय ॥*

“हे कृष्ण, हे नन्द महाराज के लाड़ले! मैं आपका नित्यदास हूँ, किन्तु न जाने कैसे इस अज्ञान के सागर में गिर गया हूँ। यद्यपि मैं अत्यधिक संघर्ष कर रहा हूँ, किन्तु अपने को बचाने का कोई उपाय नहीं है। यदि आप मुझे निकाल लें और अपने चरणकमलों में धूल के एक कण की तरह मुझे टिका लें तो उससे मेरी रक्षा हो जायेगी।”

इसी तरह भक्तिविनोद ठाकुर ने गाया है—

*अनादि करम-फले, पड़ि' भवार्णव-जले,*

*तरिबारे ना देखि उपाय*

“हे प्रभु! मुझे स्मरण नहीं है कि कब मैं इस अज्ञान के सागर में किसी तरह से गिर गया और अब अपनी रक्षा करने का मुझे कोई उपाय नहीं सूझ रहा।” हमें स्मरण रखना चाहिए कि हर व्यक्ति अपने जीवन के लिए जिम्मेदार है। यदि कोई व्यक्ति कृष्ण का शुद्ध भक्त बन जाता है तब तो वह अज्ञान के सागर से उबार लिया जाता है।

तदेतत्षोडशकलं लिङ्गं शक्तित्रयं महत् ।

धत्तेऽनुसंसृतिं पुंसि हर्षशोकभयार्तिदाम् ॥ ५१ ॥

#### शब्दार्थ

तत्—इसलिए; एतत्—यह; षोडश-कलम्—सोलह अंशों से बना ( यथा दस इन्द्रियाँ, मन तथा पाँच इन्द्रिय-विषय ); लिङ्गम्—सूक्ष्म शरीर; शक्ति-त्रयम्—प्रकृति के तीन गुणों का प्रभाव; महत्—दुर्लभ; धत्ते—देता है; अनुसंसृतिम्—विभिन्न प्रकार के शरीरों में निरन्तर भ्रमण तथा देहान्तरण; पुंसि—जीव में; हर्ष—हर्ष; शोक—शोक; भय—भय; आर्ति—कष्ट; दाम्—देने वाला ।

सूक्ष्म शरीर सोलह अंशों से समन्वित होता है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच

इन्द्रियतृप्ति के विषय तथा मन। यह सूक्ष्म शरीर प्रकृति के तीन गुणों का प्रभाव है। यह दुर्लघ्य प्रबल इच्छाओं से बना हुआ है, अतएव यह जीव को मनुष्य-जीवन, पशु-जीवन तथा देवता-जीवन में एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण कराता है। जब जीव को देवता का शरीर प्राप्त होता है, तो वह निश्चित रूप से हर्षित होता है; जब उसे मनुष्य शरीर प्राप्त होता है, तो वह शोक करता है और जब उसे पशु-शरीर मिलता है, तो वह सदैव भयभीत रहता है। किन्तु सभी स्थितियों में वह वस्तुतः दुःखी रहता है। उसकी यह दुःखित अवस्था संसृति या भौतिक जीवन में देहान्तरण कहलाती है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भौतिक बद्ध जीवन के सार की व्याख्या की गई है। जीव, जो सत्तरहवाँ तत्त्व है, जन्म-जन्मांतर अकेले ही संघर्षरत रहता है। यह संघर्ष संसृति या भौतिक बद्ध जीवन कहलाता है। भगवद्गीता में यह कहा गया है कि भौतिक प्रकृति की शक्ति दुर्लघ्नीय रूप से प्रबल है (दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया)। भौतिक प्रकृति जीव को विभिन्न शरीरों में कष्ट देती है, किन्तु यदि जीव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण कर लेता है, तो वह इस झमेले से मुक्त हो जाता है, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता में हुई है (मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते)। इस तरह उसका जीवन सफल हो जाता है।

देहज्ञोऽजितषड्वर्गो नेच्छन्कर्माणि कार्यते ।

कोशकार इवात्मानं कर्मणाच्छाद्य मुह्यति ॥ ५२ ॥

#### शब्दार्थ

देही—देहधारी आत्मा; अज्ञः—पूर्णज्ञान से रहित; अजित-षट्-वर्गः—जिसने अनुभवेन्द्रियों तथा मन को वश में नहीं किया; न इच्छन्—न चाहते हुए; कर्माणि—भौतिक लाभ के लिए कर्म; कार्यते—करवाया जाता है; कोशकारः—रेशम का कीड़ा; इव—सदृश; आत्मानम्—स्वयं; कर्मणा—सकाम कर्मों से; आच्छाद्य—आवृत करके; मुह्यति—मोहित हो जाता है।

अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में करने में अक्षम मूर्ख देहधारी जीव अपनी इच्छाओं के विरुद्ध प्रकृति के गुणों के प्रभाव के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य होता है। वह उस रेशम के कीड़े के समान है, जो अपनी लार का प्रयोग बाह्य कोश बनाने के लिए करता है

और फिर उसी में बँध जाता है, जिसमें से बाहर निकल पाने की कोई सम्भावना नहीं रहती। जीव अपने ही सकाम कर्मों के जाल में अपने को बन्दी कर लेता है और तब अपने को छुड़ाने का कोई उपाय नहीं ढूँढ़ पाता। इस तरह वह सदैव मोहग्रस्त रहता है और बारम्बार मरता रहता है।

**तात्पर्य :** जैसाकि पहले बताया जा चुका है प्रकृति के गुणों का प्रभाव अति प्रबल है। विभिन्न प्रकार के सकाम कर्मों में फँसा जीव बाह्य कोश में बन्दी रेशम के कीड़े के समान है। जब तक कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् उसकी सहायता नहीं करते, इससे मुक्त हो पाना अत्यन्त कठिन होता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म गुणैः स्वाभाविकैर्बलात् ॥ ५३ ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; कश्चित्—कोई; क्षणम् अपि—एक क्षण के लिए भी; जातु—किसी भी समय; तिष्ठति—रहता है; अकर्म-कृत्—कुछ भी न करते हुए; कार्यते—करवाया जाता है; हि—निस्सन्देह; अवशः—स्वतः; कर्म—सकाम कर्म; गुणैः—प्रकृति के गुणों द्वारा; स्वाभाविकैः—पिछले जन्मों में अपनी ही प्रवृत्तियों से उत्पन्न; बलात्—बलपूर्वक।

एक भी जीव बिना कार्य किये क्षणभर भी नहीं रह सकता। उसे प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा कर्म करना ही पड़ता है, क्योंकि यह स्वाभाविक प्रवृत्ति उसे एक विशेष ढंग से कार्य करने के लिए बाध्य करती है।

**तात्पर्य :** कर्म में स्वाभाविक अर्थात् मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति सबसे महत्त्वपूर्ण कारक है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति तो सेवा करने की है, क्योंकि जीव ईश्वर का नित्य दास होता है। जीव सेवा तो करना चाहता है, किन्तु परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाने के कारण वह भौतिक प्रकृति के विविध गुणों के अधीन सेवा करता है और विविध सेवा के रूप गढ़ता है यथा समाजवाद, मानवतावाद तथा उपकारवाद। किन्तु मनुष्य को *भगवद्गीता* के उपदेशों से ज्ञान ग्रहण करना चाहिए और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के इस आदेश को स्वीकार करना चाहिए कि मनुष्य विभिन्न नामों से भौतिक सेवा की सारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का परित्याग कर दे और भगवान् की



सेवा स्वीकार करे। मनुष्य की आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति तो कृष्णभावनामृत के अन्तर्गत कर्म करने की है, क्योंकि मनुष्य का असली स्वभाव आध्यात्मिक है। मनुष्य का कर्तव्य है कि इसे समझे, क्योंकि वह मूलतः आत्मा है, अतः उसे आध्यात्मिक प्रवृत्ति का पालन करना चाहिए और भौतिक प्रवृत्तियों के द्वारा बहकना नहीं चाहिए। इसीलिए श्रील भक्ति विनोद ठाकुर ने गाया है—

(मिछे) मायार वशे; याच्छा भेसे'

खाच्छा हाबुडुबु, भाइ।

“मेरे भाइयों! तुम लोग भौतिक शक्ति की तरंगों द्वारा ले जाये जा रहे हो और अनेक दुखमय स्थितियों को भोग रहे हो। कभी तुम भौतिक प्रकृति की तरंगों में डूबते हो तो कभी समुद्र में संघर्ष कर रहे तैराक की तरह उछाल दिये जाते हो।” भक्तिविनोद ठाकुर ने ठीक ही कहा है, माया की तरंगों द्वारा थपेड़े खाने की मनुष्य की यह प्रवृत्ति उनकी आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति में जो आध्यात्मिक है, बदली जा सकती है, जब जीव यह समझ जाता है कि वह कृष्ण का नित्य दास (कृष्णदास) है।

(जीव) कृष्ण-दास, एइ विश्वास,

कर्ले त' आर दुःख नाइ

विभिन्न नामों से माया की सेवा करने के बजाय यदि मनुष्य अपनी सेवा-प्रवृत्ति को परम भगवान् की ओर मोड़ता है, तो वह सुरक्षित रहता है और फिर कोई कठिनाई नहीं आती। यदि वैदिक वाङ्मय में कृष्ण द्वारा दिये गये पूर्ण ज्ञान को समझकर मनुष्य-जीवन में कोई अपनी आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति में लौट आता है, तो उसका जीवन सफल है।

लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत ।

यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

लब्धा—प्राप्त करके; निमित्तम्—कारण; अव्यक्तम्—अदृश्य, अथवा पुरुष को अज्ञात; व्यक्त-अव्यक्तम्—व्यक्त तथा अव्यक्त या स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर; भवति—उत्पन्न होता है; उत—निश्चय ही; यथा-योनि—माता के ही सदृश; यथा-बीजम्—पिता के ही सदृश; स्व-भावेन—स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा; बलीयसा—जो अत्यन्त शक्तिशाली है।

सजीव प्राणी जो भी सकाम कर्म करता है, वे चाहे पवित्र हों या अपवित्र, वे उसकी इच्छाओं की पूर्ति के अदृश्य कारण होते हैं। यह अदृश्य कारण ही जीव के विभिन्न शरीरों की जड़ है। जीव अपनी उत्कट इच्छा के कारण किसी विशेष परिवार में जन्म लेता है और ऐसा शरीर प्राप्त करता है, जो या तो उसकी या उसके पिता माता जैसा होता है। स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर उसकी इच्छा के अनुसार उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर की उपज है। भगवद्गीता (८.६) में कहा गया है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

“हे कुन्तीपुत्र! शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह निश्चित रूप से उस-उस भाव को प्राप्त होता है।” मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर का वातावरण स्थूल शरीर के कार्यों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। इस तरह स्थूल शरीर आजीवन कर्म करता है और सूक्ष्म शरीर मृत्यु के समय कार्य करता है। सूक्ष्म शरीर, जिसे लिंग या इच्छा का शरीर कहते हैं, किसी विशेष प्रकार के स्थूल शरीर के विकास के लिए पृष्ठभूमि होती है, जो या तो किसी की माता के सदृश या उसके पिता के सदृश होता है। ऋग्वेद के अनुसार, यदि मैथुन के समय माता का स्राव पिता के स्राव से अधिक होता है, तो शिशु को लड़की का शरीर प्राप्त होता है और यदि पिता का स्राव माता के स्राव से अधिक होता है, तो लड़के का शरीर प्राप्त होता है। ये प्रकृति के सूक्ष्म नियम हैं, जो जीव की इच्छा के अनुसार क्रियाशील होते हैं। यदि मनुष्य को कृष्णभावनामृत का विकास करके उसके सूक्ष्म शरीर को बदलने की शिक्षा दी जाये तो मृत्यु के समय यह सूक्ष्म शरीर ऐसे स्थूल शरीर को जन्म देगा जिसमें वह कृष्ण का भक्त होगा या फिर यदि वह अधिक पूर्ण हुआ तो वह दूसरा भौतिक शरीर नहीं ग्रहण करेगा, अपितु तुरन्त आध्यात्मिक शरीर पाकर घर को अर्थात्

भगवद्धाम लौट जायेगा। आत्मा के देहान्तरण की यही विधि है। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के लिए समझौतों द्वारा मानव-समाज को संयुक्त करने का प्रयास करने के बजाय, अच्छा यही होगा कि लोगों को यह शिक्षा दी जाये कि किस तरह कृष्णभावनाभावित होकर भगवद्धाम वापस जाया जाये। यह आज सत्य है और निस्सन्देह किसी भी समय सत्य रहेगा।

एष प्रकृतिसङ्गेन पुरुषस्य विपर्ययः ।

आसीत्स एव न चिरादीशसङ्गाद्विलीयते ॥ ५५ ॥

### शब्दार्थ

एषः—यह; प्रकृति-सङ्गेन—भौतिक प्रकृति के साथ संगति होने से; पुरुषस्य—जीव का; विपर्ययः—विस्मृति की स्थिति या विषम स्थिति; आसीत्—आ गई; सः—वह स्थिति; एव—निस्सन्देह; न—नहीं; चिरात्—दीर्घ काल तक; ईश-सङ्गात्—परम ईश्वर ( परमेश्वर ) की संगति से; विलीयते—समाप्त हो जाती है।

चूँकि जीव की संगति भौतिक प्रकृति से रहती है, अतएव वह बड़ी विषम स्थिति में होता है, किन्तु यदि उसे मनुष्य जीवन में यह शिक्षा दी जाती है कि किस तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् या उनके भक्त की संगति की जाये तो इस स्थिति पर काबू पाया जा सकता है।

तात्पर्य : प्रकृति का अर्थ है भौतिक प्रकृति तथा पुरुष भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को द्योतित करने वाला हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति भगवान् की स्त्री-शक्ति प्रकृति के साथ अपना संसर्ग बनाये रखना चाहता है और इस भ्रम में रहकर कि वह प्रकृति का भोग कर सकेगा, अपने को कृष्ण से विलग कर ले तो उसे बद्ध जीवन में बने रहना पड़ेगा। किन्तु यदि वह अपनी चेतना बदल लेता है और परम आदि पुरुष ( पुरुषं शाश्वतम् ) से या उनके संगियों से संगति करता है, तो वह भौतिक प्रकृति के पाश से बाहर निकल सकता है। जैसा कि भगवद्गीता (४.९) में पुष्टि हुई है जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः मनुष्य को परम पुरुष कृष्ण को उनके रूप, नाम, कार्य तथा लीलाओं के रूप में केवल समझना होता है। इससे वह सदा कृष्ण की संगति में बना रहेगा। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन इस प्रकार अपने इस स्थूल शरीर को त्यागने के बाद मनुष्य दूसरा स्थूल शरीर नहीं ग्रहण करता, अपितु आध्यात्मिक शरीर ग्रहण करता है, जिससे

वह भगवद्धाम वापस जा सके। इस तरह भौतिक शक्ति की संगति से उत्पन्न उसके कष्ट का अन्त हो जाता है। संक्षेपतः जीव भगवान् का नित्य दास है, किन्तु वह भौतिक जगत में आता है और प्रभुत्व जताने की इच्छा के कारण वह भौतिक स्थितियों द्वारा बँध जाता है। मुक्ति का अर्थ है इस झूठी चेतना को त्यागकर ईश्वर के प्रति अपनी आदि सेवा को पुनरुज्जीवित करना। आदि जीवन में यह वापसी मुक्ति कहलाती है, जिसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत में हुई है (मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः)।

अयं हि श्रुतसम्पन्नः शीलवृत्तगुणालयः ।

धृतव्रतो मृदुर्दान्तः सत्यवाङ्मन्त्रविच्छुचिः ॥ ५६ ॥

गुर्वग्न्यतिथिवृद्धानां शुश्रूषुरनहङ्कृतः ।

सर्वभूतसुहृत्साधुर्मितवागनसूयकः ॥ ५७ ॥

### शब्दार्थ

अयम्—यह व्यक्ति (अजामिल नामक); हि—निस्सन्देह; श्रुत-सम्पन्नः—वैदिक ज्ञान में सुशिक्षित; शील—अच्छे चरित्र; वृत्त—अच्छे चाल-चलन; गुण—तथा अच्छे गुण का; आलयः—आगार; धृत-व्रतः—वैदिक आदेशों को सम्पन्न करने में दृढ़; मृदुः—अत्यन्त विनीत; दान्तः—मन तथा इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करने वाला; सत्य-वाक्—सदैव सत्यव्रती; मन्त्र-वित्—वैदिक मंत्रों के उच्चारण की विधि को जानने वाला; शुचिः—सदैव अत्यन्त स्वच्छ; गुरु—गुरु; अग्नि—अग्नि; अतिथि—अतिथि; वृद्धानाम्—तथा घर के बड़े बूढ़ों का; शुश्रूषुः—आदरपूर्वक सेवा में लगा रहने वाला; अनहङ्कृतः—गर्व या झूठी प्रतिष्ठा से रहित; सर्व-भूत-सुहृत्—सारे जीवों का मित्र; साधुः—अच्छे स्वभाव वाला (उसके चरित्र में कोई दोष नहीं निकाल सका); मित-वाक्—बात करते समय यह ध्यान रखने वाला कि व्यर्थ न बोला जाये; अनसूयकः—ईर्ष्यारहित।

प्रारम्भ में अजामिल नामक उस ब्राह्मण ने सारे वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन किया था।

वह अच्छे चरित्र, अच्छे चाल-चलन तथा अच्छे गुणों का आगार था। वह सारे वैदिक आदेशों को सम्पन्न करने में दृढ़ था, वह अत्यन्त मृदु तथा सुशील था और अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में रखता था। यही नहीं, वह सदा सच बोलता था, वह जानता था कि वैदिक मंत्रों का उच्चारण करना होता है तथा वह अत्यन्त शुद्ध भी था। अजामिल अपने गुरु, अग्निदेव, अतिथियों तथा घर के वृद्धजनों का अतीव आदर करता था। निस्सन्देह वह झूठी प्रतिष्ठा से मुक्त था। वह सरल, सभी जीवों के प्रति उपकार करने वाला तथा शिष्ट था।

वह न तो व्यर्थ की बातें करता था, न किसी से ईर्ष्या करता था।

तात्पर्य : यमदूत पाप तथा पुण्य की वास्तविक स्थिति तथा इस जगत में जीव किस तरह फँसता है, इसकी व्याख्या कर रहे हैं। अजामिल के जीवन-इतिहास का वर्णन करते हुए यमदूत बताते हैं कि प्रारम्भ में वह वैदिक साहित्य का विद्वान था। वह अच्छे आचरण वाला, स्वच्छ तथा हर एक के प्रति अतीव दया करने वाला था। वस्तुतः उसमें सारे सद्गुण थे। दूसरे शब्दों में, वह एक पूर्ण ब्राह्मण के सदृश था। ब्राह्मण से आशा की जाती है कि वह पूर्णतया पवित्र हो, सभी विधि-विधानों का पालन करे और समस्त सद्गुणों से युक्त हो। इन श्लोकों में पुण्य के लक्षण बतलाये गये हैं। श्रील वीरराघव आचार्य टीका करते हैं कि धृत-व्रत का अर्थ है— धृतं व्रतं स्त्री-संगराहित्यात्मक-ब्रह्मचर्य रूपम्। दूसरे शब्दों में, अजामिल पूर्ण ब्रह्मचारी के रूप में ब्रह्मचर्य के विधि-विधानों का पालन करता था और वह अत्यन्त दयालु, सच्चा, स्वच्छ तथा शुद्ध था। इन गुणों के होते हुए भी वह कैसे पतित हुआ और यमराज द्वारा दण्ड दिये जाने के लिए धमकाया गया, इसका वर्णन अगले श्लोकों में किया जायेगा।

एकदासौ वनं यातः पितृसन्देशकृदिद्वजः ।

आदाय तत आवृत्तः फलपुष्पसमित्कुशान् ॥ ५८ ॥

ददर्श कामिनं कञ्चिच्छूद्रं सह भुजिष्यया ।

पीत्वा च मधु मैरेयं मदाघूर्णितनेत्रया ॥ ५९ ॥

मत्तया विश्लथन्नीव्या व्यपेतं निरपत्रपम् ।

क्रीडन्तमनुगायन्तं हसन्तमनयान्तिके ॥ ६० ॥

### शब्दार्थ

एकदा—एक बार; असौ—यह अजामिल; वनम् यातः—जंगल में गया; पितृ—अपने पिता का; सन्देश—आदेश; कृत्—पूरा करने के लिए; द्विजः—ब्राह्मण; आदाय—एकत्र करके; ततः—उस जंगल से; आवृत्तः—लौटते हुए; फल-पुष्प—फल फूल; समित्-कुशान्—समित तथा कुश नामक दो प्रकार के तृण; ददर्श—देखा; कामिनम्—अत्यन्त कामी; कञ्चित्—किसी; शूद्रम्—चतुर्थ वर्ण का व्यक्ति, शूद्र; सह—साथ; भुजिष्यया—सामान्य दासी या वेश्या के; पीत्वा—पीकर; च—भी; मधु—अमृत; मैरेयम्—सोम पुष्पों से बना; मद—नशे से; आघूर्णित—घुमाती हुई; नेत्रया—अपनी आँखें; मत्तया—मदमत्त; विश्लथत्-नीव्या—शिथिल वस्त्रों वाली; व्यपेतम्—सही आचरण से गिरी हुई; निरपत्रपम्—जनता के मत के भय से रहित; क्रीडन्तम्—भोग में लगी; अनुगायन्तम्—गाते हुए; हसन्तम्—हँसते हुए; अनया—उसके साथ; अन्तिके—पास ही।

एक बार यह ब्राह्मण अजामिल अपने पिता का आदेश पालन करते हुए जंगल से फल, फूल तथा समित् और कुश नामक दो प्रकार की घासों लाने जंगल गया। घर वापस आते समय उसे एक अत्यन्त कामुक, चतुर्थ वर्ण का व्यक्ति शूद्र मिला जो निर्लज्ज होकर एक वेश्या का आलिंगन तथा चुम्बन कर रहा था। यह शूद्र इस तरह हँसते, गाते हुए आनन्द ले रहा था मानो यही उचित आचरण हो। यह शूद्र तथा वेश्या दोनों ही सुरापान किये हुए थे। वेश्या की आँखें नशे से घूम रही थीं और उसके वस्त्र शिथिल पड़ गये थे। अजामिल ने उन्हें ऐसी दशा में देखा।

तात्पर्य : रास्ते में आते हुए अजामिल को एक चतुर्थ वर्ण का पुरुष तथा एक वेश्या मिली जिनका यहाँ पर स्पष्टता से वर्णन हुआ है। पुराने युगों में भी कभी-कभी मदोन्मत्तता प्रकट होती थी, किन्तु बहुत आम न थी। किन्तु इस कलियुग में ऐसा पाप सर्वत्र देखा जाता है, क्योंकि सारे संसार में लोग निर्लज्ज हो चुके हैं। बहुत काल पूर्व जब अजामिल ने उन्मत्त शूद्र तथा वेश्या का दृश्य देखा था, तो पूर्ण ब्रह्मचारी होते हुए भी वह प्रभावित हो गया। आजकल ऐसा पाप अनेक स्थानों में दृष्टिगोचर होता है और हमें उस ब्रह्मचारी छात्र की स्थिति पर विचार करना चाहिए जो ऐसे आचरण को देखता है। यदि वह यम-नियमों के पालन में अत्यन्त सुदृढ़ न हो तो ऐसे ब्रह्मचारी के लिए स्थिर रह पाना अत्यन्त कठिन है। फिर भी यदि कोई कृष्णभावनामृत को गम्भीरतापूर्वक अंगीकार करे तो वह पाप द्वारा उत्पन्न उत्तेजना का सामना कर सकता है। हम अपने कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा जुआ खेलने पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। कलियुग में एक शराब पी हुई अर्धनग्न स्त्री द्वारा किसी उन्मत्त पुरुष का आलिंगन करते हुए देखे जाना एक सामान्य दृश्य है, विशेषतया पाश्चात्य देशों में और ऐसा दृश्य देखने के बाद अपने को रोक पाना अति कठिन है। फिर भी यदि कृष्ण-कृपा से कोई व्यक्ति विधि-विधानों में दृढ़ रहता है और हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करता है, तो कृष्ण उसकी रक्षा निश्चित रूप से करेंगे। दरअसल, कृष्ण कहते हैं कि उनके भक्त का कभी नाश नहीं होता (कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः

प्रणश्यति)। अतएव कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने वाले सारे शिष्यों को आज्ञापूर्वक विधि-विधानों का पालन करना चाहिए और भगवन्नाम का कीर्तन करने में स्थिर रहना चाहिए। तब डरने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। अन्यथा मनुष्य की स्थिति विशेषतया इस कलियुग में अत्यन्त भयावह है।

दृष्ट्वा तां कामलिप्तेन बाहुना परिरम्भिताम् ।  
जगाम हृच्छयवशं सहसैव विमोहितः ॥ ६१ ॥

#### शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; ताम्—उस ( वेश्या ) को; काम-लिप्तेन—कामेच्छाओं को उद्दीप्त करने के लिए हल्दी लगाये हुए; बाहुना—बाँह से; परिरम्भिताम्—आलिंगित; जगाम—चला गया; हृत्-शय—हृदय के भीतर कामेच्छाओं का; वशम्—वशीभूत; सहसा—एकाएक; एव—निस्सन्देह; विमोहितः—मोहित हुआ।

यह शूद्र हल्दी के चूर्ण से अपनी बाहें चमकाए हुए था और उस वेश्या का आलिंगन कर रहा था। जब अजामिल ने उसे देखा तो उसके हृदय में सुप्त कामेच्छाएँ जाग्रत हो उठीं और वह सम्मोहित होकर उनके वश में हो लिया।

तात्पर्य : कहा जाता है कि यदि शरीर में हल्दी लगी हो तो यह विपरीत लिंग की कामेच्छाओं को आकृष्ट करता है। कामलिप्तेन शब्द सूचित करता है कि वह शूद्र अपना शरीर हल्दी के लेप से अलंकृत किए था।

स्तम्भयन्नात्मनात्मानं यावत्सत्त्वं यथाश्रुतम् ।  
न शशाक समाधातुं मनो मदनवेपितम् ॥ ६२ ॥

#### शब्दार्थ

स्तम्भयन्—वश में करने का प्रयास करते हुए; आत्मना—बुद्धि से; आत्मानम्—मन को; यावत् सत्त्वम्—यथासम्भव उसके लिए; यथा-श्रुतम्—आदेश का ( ब्रह्मचर्य का, स्त्री को देखने तक का ) स्मरण करके; न—नहीं; शशाक—समर्थ था; समाधातुम्—रोक पाने के लिए; मनः—मन; मदन-वेपितम्—कामदेव या कामेच्छाओं द्वारा चलायमान।

उसने धैर्यपूर्वक स्त्री को न देखने के शास्त्रों के आदेश स्मरण करने का यथासम्भव प्रयास किया। इस ज्ञान तथा अपनी बुद्धि के बल पर उसने अपनी कामेच्छाओं को वश में करने का प्रयास किया, किन्तु अपने भीतर कामदेव का वेग होने से वह अपने मन को साध

न सका।

**तात्पर्य :** जब तक कोई ज्ञान, धैर्य तथा उचित शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक आचरण में अत्यन्त प्रबल न हो तब तक उसके लिए अपनी कामेच्छाओं को वश में कर पाना अतीव कठिन है। अतः किसी पुरुष द्वारा एक युवती का आलिंगन किया जाना तथा संभोग के लिए अपेक्षित प्रत्येक कार्य सम्पन्न होते देखकर, ऊपर वर्णित एक पूर्णयोग्य ब्राह्मण भी अपनी कामेच्छाओं को वश में नहीं कर सका और उनसे अपने को रोक नहीं पाया। भौतिकतावादी जीवन के वेग के कारण तब तक आत्मसंयम रख पाना दुष्कर है जब तक कोई व्यक्ति भक्ति के माध्यम से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के संरक्षण में न हो।

तन्निमित्तस्मरव्याजग्रहग्रस्तो विचेतनः ।

तामेव मनसा ध्यायन्स्वधर्माद्विरराम ह ॥ ६३ ॥

#### शब्दार्थ

तत्-निमित्त—उसे देखने से उत्पन्न; स्मर-व्याज—उसके विषय में लगातार सोचते रहने का लाभ उठाकर; ग्रह-ग्रस्त:—ग्रहण द्वारा पकड़ा हुआ; विचेतनः—अपनी असली स्थिति को पूरी तरह भूलकर; ताम्—उसको; एव—निश्चय ही; मनसा—मन से; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; स्व-धर्मात्—ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले अनुष्ठानों को; विरराम ह—उसने पूरी तरह बन्द कर दिया।

जिस तरह सूर्य तथा चन्द्रमा एक क्षुद्र ग्रह द्वारा ग्रसित हो जाते हैं, उसी तरह उस ब्राह्मण ने अपना सारा उत्तम ज्ञान खो दिया। इस स्थिति का लाभ उठाकर वह सदैव उस वेश्या के विषय में सोचता रहता और थोड़े समय बाद ही उसने उसे अपने घर में नौकरानी के रूप में रख लिया तथा ब्राह्मण के सारे अनुष्ठानों का परित्याग कर दिया।

**तात्पर्य :** यह श्लोक कह कर शुकदेव गोस्वामी पाठक के मन पर यह प्रभाव छोड़ना चाहते हैं कि वेश्या की संगति से ब्राह्मण के रूप में अजामिल का उच्च पद समाप्त हो गया, यहाँ तक कि वह अपने सारे ब्राह्मण-कर्म भूल गया। तो भी जीवन के अन्त में नारायण नाम के चार अक्षरों का उच्चारण करने से वह पतित होने के गम्भीरतम खतरे से बचा लिया गया। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्* थोड़ी सी भी भक्ति मनुष्य को बड़े-से-बड़े खतरे से बचा सकती है।



भगवन्नाम का कीर्तन करने से प्रारम्भ होने वाली भक्ति इतनी बलशाली होती है कि यदि कोई यौन में लिप्त हो जाने के कारण ब्राह्मण के उच्च पद से नीचे गिरता भी है, तो वह सारी विपत्तियों से बचाया जा सकता है, यदि वह किसी तरह भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे। भगवान् के पवित्र नाम की यह असाधारण शक्ति है। इसीलिए *भगवद्गीता* में परामर्श दिया गया है कि मनुष्य क्षण-भर के लिए भी पवित्र नाम का कीर्तन करना न भूले—*सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः*। इस भौतिक जगत में अनेकानेक खतरे हैं जिससे मनुष्य किसी भी समय उच्च पद से नीचे गिर सकता है। फिर भी यदि कोई हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन द्वारा अपने को सदैव शुद्ध तथा स्थिर रखता है, तो वह निस्सन्देह सुरक्षित रहेगा।

तामेव तोषयामास पित्र्येणार्थेन यावता ।

ग्राम्यैर्मनोरमैः कामैः प्रसीदेत यथा तथा ॥ ६४ ॥

#### शब्दार्थ

ताम्—उसको (वेश्या को); एव—निस्सन्देह; तोषयाम् आस—उसने प्रसन्न करने का प्रयास किया; पित्र्येण—अपने पिता की गाड़ी कमाई से प्राप्त; अर्थेन—धन से; यावता—यथासम्भव; ग्राम्यैः—भौतिक; मनः-रमैः—उसके मन को सुहावना लगने वाले; कामैः—इन्द्रिय भोग के लिए उपहारों द्वारा; प्रसीदेत—उसे तुष्ट करना होगा; यथा—जिससे; तथा—उस तरह से।

इस तरह अजामिल अपने पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त जो भी धन था उसे अपने विविध उपहारों द्वारा उस वेश्या को तुष्ट करने में खर्च करने लगा, जिससे वह उससे प्रसन्न बनी रहे। उसने उस वेश्या को तुष्ट करने के लिए अपने सारे ब्राह्मण-कर्म भी छोड़ दिये।

तात्पर्य : विश्व में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें एक शुद्ध व्यक्ति भी वेश्या द्वारा आकृष्ट हो जाने पर उत्तराधिकार में प्राप्त सारा धन खर्च कर देता है। वेश्या का संग इतना निन्दनीय है कि वेश्या के साथ सम्भोग की इच्छा से व्यक्ति अपना चरित्र नष्ट कर सकता है, अपना उच्च पद खो सकता है और अपना सारा धन गँवा सकता है। इसलिए अवैध यौन का पुरजोर निषेध किया गया है। मनुष्य को अपनी विवाहिता पत्नी से तुष्ट रहना चाहिए, क्योंकि थोड़े से विचलन से ही सर्वनाश हो सकता है। एक कृष्णभावनाभावित गृहस्थ को इसका सदैव स्मरण रहना चाहिए। उसे

एक पत्नी से सदैव तुष्ट रहना चाहिए और केवल हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करके शान्त रहना चाहिए। अन्यथा किसी भी क्षण वह अपने उत्तम पद से नीचे गिर सकता है, जिसका ज्वलन्त उदाहरण अजामिल है।

विप्रां स्वभार्यामप्रौढां कुले महति लम्बिताम् ।

विससर्जाचिरात्यापः स्वैरिण्यापाङ्गविद्धधीः ॥ ६५ ॥

### शब्दार्थ

विप्राम्—ब्राह्मण की पुत्री; स्व-भार्याम्—अपनी पत्नी को; अप्रौढाम्—अधिक आयु वाली नहीं ( युवती ); कुले—परिवार से; महति—अतीव सम्माननीय; लम्बिताम्—विवाहिता; विससर्ज—त्याग दिया; अचिरात्—तुरन्त ही; पापः—पापी होने से; स्वैरिण्या—वेश्या की; अपाङ्ग-विद्ध-धीः—कामयुक्त चितवन से बिंधी हुई उसकी बुद्धि।

चूँकि उसकी बुद्धि वेश्या की कामपूर्ण चितवन से बिंध चुकी थी, अतः शिकार हुआ ब्राह्मण अजामिल उसकी संगति में पापकर्म करने लगा। उसने अपनी अति सुन्दर तरुण पत्नी तक का साथ छोड़ दिया जो अति सम्मानित ब्राह्मण कुल से आई थी।

तात्पर्य : प्रथा के अनुसार हर व्यक्ति अपने पिता का उत्तराधिकार पाने का पात्र है और अजामिल ने भी अपने पिता का धन उत्तराधिकार में पाया। किन्तु उसने इस धन से क्या किया? उसने यह धन कृष्ण की सेवा में न लगाकर वेश्या की सेवा में लगा दिया। अतएव उसकी निन्दा हुई और वह यमराज द्वारा दण्डनीय हुआ। यह सब कैसे हुआ? वह एक वेश्या की घातक कामयुक्त चितवन का शिकार हो गया।

यतस्ततश्चोपनिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम् ।

बभारास्याः कुटुम्बिन्याः कुटुम्बं मन्दधीरयम् ॥ ६६ ॥

### शब्दार्थ

यतः ततः—जहाँ भी और जैसे भी सम्भव; च—तथा; उपनिन्ये—उसे मिला; न्यायतः—उचित रीति से; अन्यायतः—अनुचित रीति से; धनम्—धन; बभार—भरण-पोषण किया; अस्याः—उसके; कुटुम्-बिन्याः—अनेक पुत्रियों तथा पुत्रों वाला; कुटुम्बम्—परिवार; मन्द-धीः—समस्त बुद्धि से रहित; अयम्—इस व्यक्ति ( अजामिल ) ने।

यद्यपि वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न था, किन्तु वेश्या की संगति के कारण बुद्धि से विहीन उस धूर्त ने जैसे-तैसे करके धन कमाया चाहे वह उचित रीति से हो या अनुचित रीति से और

उसको वेश्या के पुत्रों तथा पुत्रियों के भरण-पोषण में लगाया ।

यदसौ शास्त्रमुल्लङ्घ्य स्वैरचार्यतिगर्हितः ।

अवर्तत चिरं कालमघायुरशुचिर्मलात् ॥ ६७ ॥

### शब्दार्थ

यत्—चूँकि; असौ—यह ब्राह्मण; शास्त्रम् उल्लङ्घ्य—शास्त्र के नियमों का उल्लंघन करके; स्वैर-चारी—मनमाने ढंग से कार्य करते हुए; अति-गर्हितः—अत्यधिक निन्दनीय; अवर्तत—बिताया; चिरम् कालम्—दीर्घकाल; अघ-आयुः—जिसका जीवन पापकर्मों से पूर्ण था; अशुचिः—अस्वच्छ; मलात्—गंदगी के कारण ।

इस ब्राह्मण ने पवित्र शास्त्रों के विधि-विधानों का उल्लंघन करके, अपव्यय करने तथा वेश्या द्वारा बनाया भोजन करने में बड़े ही अनुत्तरदायित्व पूर्ण ढंग से अपनी दीर्घ आयु बिताई । इसीलिए वह पापों से पूर्ण है । वह अस्वच्छ है और निषिद्ध कर्मों में लिप्त रहता है ।

तात्पर्य : किसी अस्वच्छ, पापी पुरुष या स्त्री के द्वारा, विशेषतया वेश्या द्वारा बनाया गया भोजन अत्यन्त संक्रामक होता है । अजामिल ने ऐसा ही भोजन किया, अतएव उसे यमराज द्वारा दण्डित होना पड़ा ।

तत एनं दण्डपाणेः सकाशं कृतकिल्बिषम् ।

नेष्यामोऽकृतनिर्वेशं यत्र दण्डेन शुद्ध्यति ॥ ६८ ॥

### शब्दार्थ

ततः—इसलिए; एनम्—उसको; दण्ड-पाणेः—यमराज के, जिसे दण्ड देने का अधिकार है; सकाशम्—समक्ष; कृत-किल्बिषम्—जिसने नियमित रूप से सारे पापकर्म किये हैं; नेष्यामः—हम ले जायेंगे; अकृत-निर्वेशम्—जिसने प्रायश्चित्त नहीं किया हो; यत्र—जहाँ; दण्डेन—दण्ड द्वारा; शुद्ध्यति—शुद्ध बना दिया जायेगा ।

इस अजामिल ने कोई प्रायश्चित्त नहीं किया । अतः उसके पापी जीवन के कारण हम इसे दण्ड देने के लिए यमराज के समक्ष ले जायेंगे । वहाँ यह अपने पापकर्मों की मात्रा के अनुसार दण्डित होगा और इस तरह शुद्ध बनाया जायेगा ।

तात्पर्य : विष्णुदूतों ने अजामिल को यमराज के पास ले जाने से यमदूतों को रोक दिया था, अतएव यमदूतों ने बताया कि ऐसे व्यक्ति को यमराज के पास ले जाना उचित है । चूँकि अजामिल ने अपने पापकर्मों के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं किया था, अतः उसे शुद्ध बनाने के लिए यमराज के

पास ले जाया जाना था। जब कोई व्यक्ति हत्या करता है, तो वह पापी बन जाता है, अतः उसका भी वध कर दिया जाना चाहिए, अन्यथा मृत्यु के बाद उसे तमाम पापफल भोगने होंगे। इसी तरह अत्यधिक गर्हित पापी व्यक्तियों को यमराज द्वारा दण्ड दिया जाना शुद्धि की विधि है। अतएव यमदूतों ने विष्णुदूतों से अनुनय-विनय की कि वे अजामिल को यमराज के पास ले जाने से न रोकें।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत “अजामिल के जीवन का इतिहास” नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*